# लेखकीय प्रस्तावना

हमने सन् १९६८ मे जिनागम के विचित्र आँकडे नाम की पुस्तक प्रकाशित कराई थी, जो समाज मे इतनी अधिक प्रचलित हुई कि हाथो-हाथ समाप्त हो जाने पर भारी माग निरन्तर आती रही, प्राप्त न होने पर आग्रह भरे पत्र आने लगे जो अभी भी यदा-कदा आते रहते है—इसी प्रकार की एक बडी पुस्तक छपाने की योजना ५-६ वर्ष पूर्व बन चुकी थी—सग्रह भी विशेष रूप से हो चुका था—सन् १९७० मे हमने यह वृहद सग्रह लिखकर स्व० प० श्री गुणभद्र जी को बम्बई इसलिये भेजा था कि इस सग्रह मे किसी प्रकार की अशुद्धि हो तो देखकर सुधार कर देवे—उसका उत्तर और उन्होने ही इस ग्रन्थ का नाम 'जीवोद्धार" लिखकर पाडुलिपी भेजी—और साथ मे पत्र लिखकर भेजा कि—कि इसके अन्तर्गत सब कुछ आपके लिखे अनुसार सग्रह है, अगर चाहे तो निसकोच सुधार कर सकते है। यह उनके हस्तलिखित ३-११-७१ के पत्र मे लिखा मिला। प० श्री गुणभद्र जी निस्वार्थ सेवाभावी भद्र प्रणामी—निर्लोभी विद्वान् व कविरत्न थे—उन्होने हमारे लिये राम-कथा—वसुदेव चरित्र—आराधानसार मृगावती आदि अनेक काव्य लिख-लिख कर प्रकाशनार्थ भेजी। अभी भी कई काव्य अप्रकाशित सुरक्षित है जो समय आने पर प्रकाशित होगी।

इस जीवोद्धार ग्रथ को छपने समय प० हीरालाल कौशल ने भी सम्पादन करने मे भारी परिश्रम और समय दिया, जिसके हम उनके आभारी है—प० मनीराम जी और कौशल जी के सयोग मे यह ग्रन्थ साथ एक साथ मे सुन्दर छपकर आपके समक्ष आ रहा है, पाठकों से आशा है इससे लाभ उठाकर लेखक, प्रकाशक का उत्साह बढावे—

आपका शुभचिन्तक पन्नालाल जैन
[illegible] देहली (११०००५)

श्री जिनाय नम

# आत्मोद्धार—जीवोपकार

## जीव क्या चाहता है ?

जीव सुख चाहता है, दुख से डरता है। परन्तु मोहाधीन जीव दु खो से डरने पर भी उनके कारणो का त्याग करने मे असमर्थ सा बना रहता है। इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगो मे सुख मानकर उनके ही लिए रात-दिन अविराम प्रयत्न करता रहता है, रौद्र ध्यान मे फसा रहता है जिसके फलस्वरूप नरकादि गतियो मे बारम्बार जन्म-मरण करना पडता है। ऐसे रौद्रध्यान का लक्षण समझ लेना अति आवश्यक है। क्योकि जब तक किसी भी वस्तु के गुण-दोष नही जाने जाते तब तक उसका ग्रहण-त्याग नही हो सकता।

## ध्यान के भेद-रौद्र ध्यान

क्रूर आशय (अभिप्राय) वाले प्राणी को रुद्र कहते है, उस रुद्र के कार्य अथवा भाव-परिणाम को रौद्र कहते है। निष्ठुर ध्यान का नाम रौद्र ध्यान है। उसके चार भेद है।

(१) हिंसानन्दी–अन्य प्राणियो को कष्ट देकर, कष्ट दिलवाकर, कष्ट देने वाले प्राणी की प्रशसा कर, मन मे जो आनन्द का अनुभव होता है, वह हिंसानन्दी रौद्र ध्यान है। इस ध्यान से जीव नरकादि गति मे जाता है। रौद्र ध्यानी मे दया भाव का होना कठिन है।

(२) मृषानन्दी—असत्य भाषण मे आनन्द मानना। जो असत्य बोल कर, दूसरो द्वारा बुलवाकर अथवा असत्य बोलने वाले की आनद पूर्वक प्रशसा करता है, ऐसे जीव के मृषानद नाम का दूसरा रौद्र ध्यान होता है।

(३) चौर्यानन्दी—जो स्वय चोरी करके, दूसरो द्वारा चोरी कराकर अथवा चोरी करने वाले की प्रशसा करता है, और ऐसे कार्यों से आनन्दित होता है वह चौर्यानदी जीव है।

(४) **परिग्रहानन्दी**—जो तृष्णा—भावी होकर अन्याय से अन्य को कष्ट देकर धनादि परिग्रह को एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है, तथा परिग्रह (पर पदार्थों) के सग्रह मे आनन्द मानता है, उसके परिग्रहानन्दी रौद्र ध्यान होता है।

ये चारो ही प्रकार के रौद्र ध्यानी जीव अशुभ परिणामो के कारण नरकायु उपार्जन कर नरक जाते है और दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते रहते हे।

इसी रौद्र ध्यान का सगाभाई आर्त ध्यान है और इसके भी चार भेद है।

## आर्त ध्यान

दु खित या क्लेशित परिणामो को आर्त कहते है, उसमे उत्पन्न होने वाले ध्यान को आर्त ध्यान कहते है।

(१) **इष्ट वियोगज आर्त ध्यान**—प्रिय कुटुम्वी के मर जाने पर, विछुड जाने पर, परदेश जाने पर, धन की हानि या चोरी हो जाने पर शोक और महान दु ख अनुभव करके उसी ध्यान मे एकाग्र रहना इष्ट वियोगज आर्त ध्यान है।

(२) **अनिष्ट सयोगज आर्त ध्यान**—अरुचिकर पदार्थों का सयोग होने पर उनके दूर करने की चिन्ता मे लगे रहना अनिष्ट सयोगज नाम का आर्त ध्यान है।

(३) **रोग चिन्तवन आर्त ध्यान**—अपने शरीर मे रोगादि उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिए जो निरन्तर आत्मा मे चिन्ता का होना रोग चिन्तवन नाम का आर्त ध्यान है।

(४) **निदान आर्त ध्यान**—इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने पर अन्य के धन धान्य, स्त्री, राज्यादि सुख को देख कर लालायित होना—उसी इच्छा लालसा मे कलशित, दुखी भाव रखते हुए आगामी काल मे मुझे धन-धान्यादि वस्तुओ की प्राप्ति हो ऐसे आकुलित भाव रखना, निदान आर्त ध्यान है। ऐसे आर्तध्यानो मे आत्मा अत्यन्त व्याकुल-व्याकुल होती रहती है, जिसके कारण उसका मन धर्म या मोक्ष के लिए प्रयत्न नही कर पाता। इस ध्यान मे तिर्यंच (पशु)

गति का वन्ध होता है । इससे वचने के लिए धर्म-ध्यान की आव-श्यकता है ।

## धर्म-ध्यान

जिस प्रकार आर्त और रौद्र ध्यान ससार के कारण है, उसी प्रकार धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के साधन भूत है । इन ध्यानो से जीव को सद्‌गति मिलती है ।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप का नाम धर्म है और उसके विचार से आत्मा में धर्म ध्यान की प्राप्ति होती है ।

धर्म ध्यान के चार भेद है—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय ।

(१) आज्ञा विचय—भगवान् वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा उपदेश को हृदय से प्रमाणभूत मानकर, अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् वस्तु स्वरूप के यथार्थ कहने वाले हैं, उनके द्वारा कही हुई वध-मोक्ष-की व्याख्या यथार्थ—सत्य हैं । जिनेद्र ही यथार्थ वक्ता है, क्योकि उनमे राग, द्वेप और अज्ञान नही है । जिस पुरुप मे उपर्युक्त तीन दोप नही होते, वह सत्य वक्ता होता है, ऐसे विचारो को आज्ञा विचय धर्म ध्यान कहते है ।

(२) अपाय विचय—अनादिकाल से इस आत्मा के साथ लगे हुए मोहनीय कर्म तथा अन्य कर्मो का कैसे अभाव हो, मोह के विवश हो मेरी आत्मा अनेक प्रकार के कष्टो का सहन कर रही है उनका कैसे अभाव हो । यह चिन्तवन अपाय विचय धर्म-ध्यान है ।

(३) विपाक विचय—विपाक का अर्थ है कर्मो का फल । अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म फल का वारम्वार इस प्रकार विचार करना कि, मैंने इस ससार मे अनेक वार दु ख सहन किये है । मुझे नरकादि गतियो मे अनेक दुख मिले, स्वग के सुखो से भी मुझे तृप्ति न मिली । कर्म के फल का विचार कर आत्मा धम की ओर ध्यान देता है ।

(४) सस्थान विचय—लोक स्वरूप का विचार करना सस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है । आकाश अनन्त है जो लोक और अलोक के भेद से दो प्रकार है । अलोक मे एक आकाश के सिवाय अन्य कोई पदार्थं नही है । लोक मे उर्ध्व लोक, मध्य लोक और

अधोलोक है। इसी से लोक तीन प्रकार का हो जाता है। उर्ध्व लोक मे कल्पवासी देवो का निवास है, मध्य लोक मे तिर्यच और मनुष्य रहते है। इस लोक मे असख्यात द्वीप और समुद्र है। स्वर्ग, नरक ऊपर और नीचे लोक मे है, उनमे मैने अनादि से बहुत परिभ्रमण किया है। ऐसी विचारणा को सस्थान विचय ध्यान कहते है।

सस्थान विचय धर्म ध्यान मे **पिण्डस्थ, पदस्थ,** रूपस्थ और **रूपातीत** इस प्रकार इस ध्यान के चार भेद है। पिडस्थ ध्यान मे पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्ववती धारणाओ से ध्यान किया जाता है। इनका विशेप स्वरूप 'ज्ञानावर्ण' शास्त्र से जानना योग्य है।

पदस्थ ध्यान में परमेष्ठी वाचक उत्तम मत्रो का (ध्यान) विचार किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान मे अरहन्त भगवान का ध्यान किया जाता है।

रूपातीत—ध्यान मे ध्यानी मुनि चिदानदमय, शुद्ध, अमूर्त्त, परम सुखरूप आत्मा का आत्मा द्वारा ध्यान करता है। यहा शुद्धात्मा का ध्यान है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये चार भावनाये धर्म ध्यान मे परम सहायक है।

**मैत्री**—छोटे-बडे सभी जीवो से मित्रता रखना अर्थात् जगत्वासी सभी जीव कष्ट-आपदाओ से मुक्त होकर परम-सुख प्राप्त करें, आनद से अपना जीवन व्यतीत करें।

(२) **प्रमोद**—गुणी मनुष्यो को देखकर आनन्दित होना।

(३) **करुणा**—जो जीव दीनता शोक, तथा भय रोगादि से दुखित हो रहे है, उन्हे देखकर उनके दुख दूर करने की मन मे भावना करना तथा यथाशक्ति उनके दुखो को दूर करना।

(४) **माध्यस्थ**—अत्यन्त पापी तथा देव, गुरु, धर्म के निन्दको के प्रति राग-द्वेष रहित रहना, उनकी उपेक्षा-माध्यस्थ भावना है। इस भावना के बल से दूसरो पर कषाय भाव नही उत्पन्न होता।

## शुक्ल ध्यान

कषाय रूपी मल के क्षय से अथवा उपशम से होने वाले ध्यान को

शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान भी चार तरह का है—

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवर्ति। ये शुक्ल ध्यान के नाम हैं।

आदि के दो शुक्ल ध्यान छद्मस्थ मुनियों के होते हैं। उनमे श्रुत ज्ञान पूर्वक पदार्थ का अवलम्बन होता है और अंत के दो ध्यान श्री जिनेद्र देव के होते हैं, वे समस्त अवलम्बन रहित हैं, वहां किसी द्रव्य का आधार नहीं है परन्तु स्वाभाविक ध्यान है।

आदि के दो शुक्ल ध्यानों में पहला शुक्ल ध्यान वितर्क-विचार और पृथक्त्व सहित है। इसलिए इसका नाम पृथक्त्व वितर्क विचार है।

दूसरा शुक्लध्यान वितर्क, सहित है, परन्तु वीचार रहित है और एकत्व पद से युक्त है, इसलिए इसे एकत्व-वितर्क-वीचार कहा है। यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है।

तीसरे शुक्ल ध्यान का नाम सूक्ष्म—क्रिया प्रतिपाती है। इसमें क्रिया नहीं है, परन्तु काम की क्रिया विद्यमान है, यह काम की क्रिया घटते-घटते जब सूक्ष्म रह जाती है तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती शुक्ल ध्यान होता है।

चौथे शुक्ल ध्यान का नाम समुच्छिन्न क्रिया है अर्थात् व्युपरत क्रिया-निवृत्ति। इसमें काम की क्रिया मिट जाती है।

शुक्ल ध्यान के चारों भेदों में से पहला पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान मन, वचन, काय इन तीनों योगों वाले मुनियों के होता है। क्योंकि इसमें योग पलटते रहते हैं। दूसरा एकत्व—वितर्क किसी एक योग से ही होता है, क्योंकि इसमें योग नहीं पलटते। योगी जिस योग में लीन है वही योग रहता है। तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग वालों के ही होता है। केवली भगवान् के केवल एक काय योग की सूक्ष्म क्रिया ही है, शेष दो योगों की क्रिया नहीं है।

चौथा समुच्छिन्न-क्रिया-ध्यान अयोग-केवली के होता है। उनके काययोग की क्रिया का भी अभाव है।

शुक्ल ध्यान का पहला भेद सातिशय अप्रमत्त नामक सातवें गुण

स्थान तक रहता है। इससे मोह कर्म का क्षय अथवा उपशम होता है।

दूसरा बारहवे गुणस्थान मे होता है। इससे शेष घातिया कर्मो का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है।

तीसरा भेद तेरहवे गुणस्थान के अन्त समय मे है और चौथा भेद चौदहवे गुणस्थान मे होता है इससे उपान्त्य तथा अन्त समय मे क्रम से ७२ और १२ प्रकृतियो का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

श्रुत ज्ञान को वितर्क कहते है।

अर्थ, व्यजन और योग के पलटने को वीचार कहते है।

**अर्थ पलटना**—अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ को छोडकर उसकी पर्याय का ध्यान करना, और पर्याय को छोडकर द्रव्य का ध्यान करना। इसे अर्थ पलटना अथवा अर्थ सक्रान्ति कहते है।

**व्यंजन पलटना**—श्रुत के एक वचन को छोडकर अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोडकर किसी अन्य का अवलम्बन करना।

**योग पलटना**—काय योग को छोडकर मनोयोग या वचन योग को ग्रहण करना और उन्हे छोड कर किसी अन्य योग को ग्रहण करना। धर्म ध्यान मे बारह अनुप्रेक्षा (भावना) कारण है। इससे यहा उनका भी सक्षेप मे वर्णन उचित ही है।

अनित्य अनुप्रेक्षा—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब, राज्यादि सभी पदार्थ क्षणभगुर हैं। जीव का मूलस्वभाव अविनाशी है। इस प्रकार के चिन्तवन को अनित्य अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अशरण अनुप्रेक्षा—इस संसार में मरण आने पर जीव की कोई रक्षा करने वाला नहीं है। जीव देह आदि पदार्थों को छोड कर परलोक में चला जाता है। इस प्रकार बार २ चिन्तवन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

संसार अनुप्रेक्षा—चतुर्गतिमय इस संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव ने बार बार अनेक अवस्थायें धारण की और संसार दुःख उठाता रहा। यह संसार दुःखमय ही है। परन्तु अपने स्वरूप को न जान सका, इस प्रकार का चिन्तवन संसार अनुप्रेक्षा है।

**एकत्व अनुप्रेक्षा**—यह जीव अकेला ही जन्म धारण करता है, अकेला ही मरता है, तथा जगत के सुख-दुख भी अकेला ही भोगता है। इसे प्रकार की विचारणा को एकत्व अनुप्रेक्षा कहते है।

**अन्यत्व अनुप्रेक्षा**—ससार के सभी पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं। कोई किसी का नही है। यहाँ सब अपने-अपने स्वार्थ के सगे हैं। कोई भी वस्तु आज तक न मेरी हुई है, और न भविष्य मे भी मेरी होगी। इसको अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते है।

**अशुचि अनुप्रेक्षा**—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्र की खान है, रोगादि का घर है। इस प्रकार के चिन्तवन को अशुचि अनुप्रेक्षा कहते है।

**आस्रव अनुप्रेक्षा**—राग, द्वेप, मिथ्यात्व इत्यादि सभी आस्रव के कारण हैं। जैसे नाव में छिद्र होने से उसमे पानी आता रहता है वैसे ही मन वचन तथा काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति से बराबर कर्म आते रहते है। यह विचार आस्रव अनुप्रेक्षा है।

**संवर अनुप्रेक्षा**—आते हुए कर्मों को रोक देना सवर है। इस विचार को सवर अनुप्रेक्षा कहते है।

**धर्मानुप्रेक्षा**—सभी ससार पदार्थों की प्राप्ति सुलभ है परन्तु सच्चे धर्म-मोक्ष मार्ग की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार का चिन्तवन धर्मानुप्रेक्षा है।

**लोकानुप्रेक्षा**—यह लोक पुरुपाकार है। अधो, उर्ध्व तथा मध्य लोक के भेद से तीन प्रकार का है। अधोलोक मे नारकियो का निवास है, मध्य लोक मे मनुष्य तथा तिर्यंच निवास करते है। उर्ध्व लोक मे इस प्रकार का विचार लोकानुप्रेक्षा है। देवो के स्थान स्वर्ग हैं। उनमें देव रहते है।

**बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा**—ससार मे इस जीव को अच्छे-अच्छे पद प्राप्त हुए परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई। सम्यग्दर्शन के अभाव में समस्त लोक अतिशय दुखी है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह विचार बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

**निर्जरा अनुप्रेक्षा**—धीरे-धीरे आत्मा से कर्मो का झड जाना

निर्जरा अनुप्रेक्षा है। यह निर्जरा सकाम और अकाम के भेद दो प्रकार की है।

सकाम निर्जरा तपादि के द्वारा होती है तथा अकाम निर्जरा समस्त ससारी जीवो को वन्ध सहित होती रहती है।

कही-कही धर्म ध्यान के दस भेद भी कहे है जो इस प्रकार है—

(१) इस अनादि ससार मे स्वच्छन्द विचरण करने वाले जीव के मन वचन और काय की प्रवृत्ति विशेप से सचित पापो की शुद्धि कैसे हो अथवा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र मे डूवे हुए जीवो का उद्धार कैसे हो, ऐसा विचार करते रहना उपाय विचय धर्म ध्यान है।

(२) मेरे मन, वचन, और काय की शुभ प्रवृत्ति कैसे हो अथवा दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के कारण जीव सम्यग्दर्शन, तथा मोक्ष-मार्ग से विमुख हो रहे है, इनका उद्धार कैसे हो ऐसा विचार करना उपाय विचय धर्म ध्यान है।

(३) जीव का लक्षण उपयोग है, द्रव्य दृष्टि से जीव अनादि अनन्त है, असख्यात प्रदेश वाला है, अपने किये हुए कर्मो के फल को भोगता है, प्राप्त शरीर के वरावर है, आत्म प्रदेशो के सकोच और विस्तार वाला है, सूक्ष्म है, व्याघात रहित है, ऊपर को गमन करने के स्वभाव वाला है, अनादिकाल से कर्म-वन्धन से वधा है, उसके क्षय से मुक्त होता है, इस प्रकार जीव के ससारी और मुक्त स्वरूप का विचार करना जीव विचय नामक तीसरा धर्म ध्यान है।

(४) जीव से भिन्न पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्यो की अनन्त पर्यायो का विचार करना अजीव विचय नाम का धर्म ध्यान है।

(५) आठो कर्मो की बहुत सी उत्तर प्रकृतियां है। उनमे से शुभ प्रकृतियो का विपाक (फल) गुड, खाड, शक्कर और अमृत की तरह मधुर है तथा अशुभ प्रकृतियो का विपाक लता, दारु (लकडी) अस्थि (हड्डी) और शैल की तरह कठोर होता है। कर्म बन्ध के चार प्रकार है, भिन्न-भिन्न गति और भिन्न-भिन्न योनि मे भिन्न २ प्रकृतियो का

वन्ध, उदय आदि होता है। इस प्रकार कर्मों के विपाक का विचार विपाक विचय नाम का धर्म ध्यान है।

(६) ससार, शरीर तथा भोगो का इस प्रकार से विचार करना जिससे उनके ऊपर से विराग परिणति हो। इस प्रकार के विचार का नाम विराग चिन्तन धर्म ध्यान है।

(७) भव (ससार) भ्रमण के दोपो का विचार करना भव विचय धर्म ध्यान है।

(८) अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओ का विचार करना संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है।

(९) सर्वज्ञ भगवान् के आगम को प्रमाण भूत मानकर तत्त्वो का विचार करना आज्ञा विचय है।

(१०) आगम के सम्वन्ध मे विवाद होने पर नैगम आदि नयो की गौणता और प्रधानता के प्रयोग मे कुशल तथा स्याद्वाद की शक्ति से युक्त तर्कशील मनुष्य अपने आगम के गुणो को और अन्य आगमो के दोपो को जानकर 'जहाँ गुणो की अधिकता हो, उसी मे अपने मन को जोडना उचित है' इस अभिप्राय को ध्यान मे रखकर जो तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट प्रवचन मे युक्तियो के द्वारा पूर्वापर अविरोध देखकर उसी की पुष्टि के लिए युक्तियो का चिन्तवन करता है वह हेतु विचय नामक धर्म ध्यान है।

**जीव किसे कहते है और उसके कितने भेद हैं ?**

जीव का लक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञान, दर्शन है। एक जीव को छोड किसी भी अन्य द्रव्य मे उपयोग नही पाया जाता। पदार्थों को सामान्य रूप जानना दर्शन है और विशेप रूप से जानना ज्ञान है। दर्शन निर्विकल्प और ज्ञान सविकल्प है। वे जीव दो प्रकार के है। जो जीव ससार के परिभ्रमण से नही छूटे है, चारो गतियो अपने कर्मोदय से फिरते रहते है वे ससारी जीव हैं। जो ससार के वन्धनो से सदा के लिए छूट गये है, आठ कर्मों से जो सर्वथा मुक्त हो गये है वे मुक्त या सिद्ध जीव है। ससार के कारणो का सर्वथा अभाव होजाने से मुक्त आत्मा ससार मे पुन जन्म नही धारण करती।

**कषाय**—क्रोध, मान, माया तथा लोभ के भेद से कषाय के चार भेद है।

**योग**—मुख्य रूप मन, वचन, काय इस प्रकार तीन भेद है।

**उपयोग के और कौन से भेद हैं?**

शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध के शुभ, अशुभ के भेद से भेद है।

**शुभोपयोग**—धर्मादि कार्यों मे कषाय की मन्दता रूप परिणामों को शुभ उपयोग कहते है और उसका स्वर्गादि गति उत्तम फल है।

**अशुभयोग**—अशुभ कार्यों के द्वारा आत्मा मे जो तीव्र कषाय परिणाम उत्पन्न होते है, उसे अशुभ योग कहते है। इसका फल नरकादि गति मे गमन है।

**शुद्धोपयोग**—यह आत्मा की शुद्ध परिणति है और इस उपयोग के द्वारा कर्मों का विनाशकर आत्मा परम पवित्र आनन्द रूप सिद्ध पद को पाता है। यह उपयोग ही मुक्ति का मुख्य कारण है।

**कौन-कौन से जीव अनपवर्त आयु वाले है? अर्थात् जिनकी आयु बीच मे खण्डित नहीं होती?**

औपपादिक जन्म वाले अर्थात् देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीर को धारण करने वाले (तद्भव मोक्षगामी) तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिया, कुभोगभूमिया, तिर्यंच और मनुष्य इन जीवों की आयु बीच मे खण्डित नही होती। अपनी पूर्ण आयु को भोगकर ही ये अन्य गति को प्राप्त होते है। मोक्षगामी जीव के शरीर को चरम शरीर कहते है।

उपर्युक्त कथन से यह समझ लेना चाहिए कि इन जीवों के सिवाय अन्य जीवों का अकाल मे भी मरण हो जाता है।

**शास्त्रों मे अपमृत्यु के कारण**

विषभक्षण, शूल आदि की तीव्र-वेदना, रक्तक्षय आदि धातुओं का क्षय, अत्यन्त भय, शस्त्रघात, विशेष प्रकार का संक्लेश, श्वासोच्छ्वास तथा आहार-पानी का निरोध इन कारणों से अपमृत्यु होकर वर्तमान की आयु छिन्न हो जाती है।

पूर्व जन्म में आयुष्य कर्म का बन्ध करते समय परिणाम अनुसार

आयु कर्म की जितनी स्थिति पड़ी थी, उतनी स्थिति का पूरा भोग न कर बीच में ही विष, शस्त्रघात आदि द्वारा भविष्य में उदय आने वाले आयुष्य के निषेकों को स्वल्पकाल में भोग लेना ही अपमृत्यु है। जैसे कि छह घण्टे में पचने योग्य अन्न का वडवानल-चूर्ण द्वारा अति-शीघ्रता से पाचन कर लिया जाता है। अथवा आम्रफल नीबू आदि फलों को भी मध्यकाल में शीघ्र पका लिया जाता है उसी प्रकार कर्मभूमि के बहुत से मनुष्य तिर्यंचों की आयु मध्य में ही ह्रास को प्राप्त हो जाती है।

औपपादिक जन्म वाले असमय में अपने भव का त्याग नहीं कर सकते। नारकी नरक वेदना सहने से मरना चाहते हैं परन्तु वे वहां से आयु पूरी किये बिना निकल नहीं पाते। स्वर्गों में निवास करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव वहां से शीघ्र छूट कर मुक्ति की इच्छा करते हैं परन्तु वे भी आयु पूर्ण हुए बिना वहां से नहीं निकल पाते।

## दया कितने प्रकार की है ?

(१) द्रव्य दया—प्रत्येक कार्य करते हुए जीव रक्षा का ध्यान रखना।

(२) भाव दया– दूसरे जीवों को दुर्गति में जाते हुए देखकर अनु-कम्पा बुद्धि से सद् उपदेश देना।

(३) स्वदया—आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व से युक्त है, वह तत्त्वों का ज्ञान न होने से भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन नहीं कर रहा है। इस प्रकार चिन्तवन कर धर्म में प्रवेश करना।

(४) परदया—षट् काय के जीवों की यथाशक्ति दया भाव से रक्षा करना।

(५) स्वरूप दया—सूक्ष्मता से चित्त को एकाग्र कर स्वरूप का विचार करना।

(६) अनुबन्ध दया—सद् गुरु या शिक्षक, शिष्य को उसके हित के लिए जो कभी-कभी कटुक व्यवहार का उपयोग करता है, वह बाहर से निष्ठुर जान पड़ता है, लेकिन उसमें कल्याण का भाव है। इसका नाम अनुबन्ध दया है।

(७) **व्यवहार दया**—उपयोग और विधि पूर्वक दया का पालन करना ।

(८ **निश्चय दया**—शुद्ध साध्य उपयोग मे एकता भाव और अभेद उपयोग का होना ।

उपरोक्त आठो प्रकार की दया को व्यवहार धर्म कहते है।

**निश्चय धर्म**—आत्म स्वरूप की भ्रान्ति को दूर करना, उसे सत्य स्वरूप मे पहचानने का प्रयत्न करना, यह ससार मेरा नही है तथा मै भी इस ससार का नही हू, परन्तु सबसे भिन्न सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध चैतन्य स्वरूप हू । इस प्रकार आत्म स्वभाव मे प्रवृत्ति करना निश्चय धर्म है ।

व्यवहार धर्म मे पर पदार्थों की प्रधानता होती है और निश्चय धर्म मे आत्म तत्त्व की मुख्यता रहती है ।

प्राणियो को दुःखी देखकर मन मे दया भाव का न होना अधर्म है । अदया मे कभी भी धर्म नही हो सकता । जैसे कि रेतो के कणो में तेल नही होता ।

**तीर्थंकरो के समवसरण के विस्तार का प्रमाण क्या है ?**

भगवान् आदिनाथ के समवसरण का प्रमाण बारह योजन था । अजितनाथ भगवान् के समवसरण का प्रमाण साढे ग्यारह योजन था । सभवनाथ के ससवसरण का प्रमाण ग्यारह योजन था । इस प्रकार क्रम मे घटते घटते महावीर भगवान के समवसरण का प्रमाण एक योजन था ।

विदेह क्षेत्र स्थित श्री सीमन्धर, जुगमधर आदि तीर्थंकरो के समवसरण का प्रमाण बारह योजन है ।

**समुद्घात किसे कहते है तथा वह कितने प्रकार का है ?**

अपने मूल शरीर को छोडे बिना, आत्म प्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है और उसके सात भेद है ।

(१) तीव्र-वेदना (पीडा) के अनुभव से मूल शरीर का त्याग न करके आत्म प्रदेशो का शरीर से बाहर जाना, वेदना समुद्घात है ।

(२) तीव्र क्रोधादिक कषायों के उदय से मूल शरीर (अर्थात् वर्तमान में आत्मा जिस शरीर में रह रही है) को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों का दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए शरीर से बाहर जाना कषाय समुद्घात है।

(३) किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न करने तथा कराने के लिए मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का बाहर जाना विक्रिया समुद्घात है।

(४) मरणान्त समय में मूल शरीर को न त्याग करके जहाँ उस आत्मा ने आयु बन्ध किया है उसको स्पर्शने को आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है।

(५) अपने मन को अनिष्ट (बुरा) उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर, जिसको क्रोध कषाय उत्पन्न हुआ है ऐसे संयमी साधु के वाम (बायें) कन्धे से सिंदूर की ढेरी जैसी कान्तिवाला, (बिलाव) के आकार का पुरुष निकल करके, वाम प्रदक्षिणा देकर, मुनि के विरोधी उस अनिष्ट पदार्थ को भस्म करके उस मुनि के साथ-आप भी भस्म हो जाता है। वह अशुभ तैजस समुद्घात है। द्वीपायन मुनि के शरीर से ऐसा पुतला निकला था और उसने सारी द्वारिका भस्म हो गई थी।

जगत् का रोग अथवा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर, परम संयम निधान किसी महर्षि के मूल शरीर को नहीं त्यागकर अच्छी शुभ आकृति का धारक पुरुष दक्षिण स्कन्ध से निकलकर, दक्षिण प्रदक्षिणा कर, रोग दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान मे प्रवेश कर जाता है। वह शुभ तैजस समुद्घात है।

(६) किसी महान् मुनि को जीवादि पदार्थों मे कोई शका होने पर—(जिसका उस समय कोई समाधान न कर सके) उनके मस्तक में से मूल शरीर का त्याग न कर निर्मल स्फटिक की आकृति को धारण करने वाला एक हाथ का पुरुष निकल कर अन्तर्मुहूर्त मे, जहा-कही भी केवली भगवान् को देखता है तब उनके दर्शन से मुनि

का सशय टालकर पदार्थ निर्णय हो जाता है। फिर वह अपने शरीर मे प्रवेश कर जाता है। यह आहारक समुद्घात है।

((६) केवलियो के जो दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण होता है वह केवली समुद्घात है।

केवली समुद्घात मे आत्मा के प्रदेश प्रथम समय मे दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समय मे कपाट रूप चौडे, तृतीय समय मे प्रतर रूप मोटे होते है और चौथे समय मे समस्त प्रदेश लोक मे भर जाते है, इसी को लोक पूरण कहते है। ये सब क्रिया चार समय मे होती है फिर चार समय मे लोकपूरण से प्रतर, कपाट, दण्ड रूप होकर चौथे समय मे शरीर मे आत्म प्रदेश समा जाते है।

जब अरहन्त भगवान् के आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त का अवशेष रह जाता है और अन्य तीन कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र) की स्थिति अधिक होती है उस समय केवली समुद्घात की क्रिया होती है।

जो जिनदेव उत्कृष्ट छह महीने की आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए है वे अवश्य ही समुद्घात करते है और शेष अर्थात् जो छह महीने से अधिक आयु रहते हुए केवली हुए है, उनके लिए कोई नियम नही है। वे समुद्घात करे और न भी करे। समुद्घात स्वाभाविक होता है। इस क्रिया से तीन कर्म आयु कर्म मे समान हो जाते है।

## दो प्रकार के जैन साधु कौन से है?

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी—यह दोनो ही निर्ग्रन्थ होते है। दोनो ही वनवासी, नग्न तथा अट्ठाईस मूल गुणो के धारक होते है परन्तु स्थविरकल्पी साधु शिष्य समुदाय के साथ रहते है, सभा मे बैठकर धर्मोपदेश देते है तथा सुनते है। जिनकल्पी साधु शिष्य समूह का त्याग कर निर्भय अकेले शान्त चित्त मे विचरते है, कठिन तपश्चरण करते है और कर्मोदय से प्राप्त उपसर्ग तथा परीषहो को शान्त मन से सहते है। स्थविर कल्पी साधुओ की अपेक्षा जिनकल्पी साधुओ की चर्या कठिन होती है। वे अपवाद मार्ग ग्रहण नही करते, उत्सर्ग मार्ग पर दृढ रहते है।

केवली भगवान् मे अठारह दोष नही होते। उनके जन्म, मरण, निद्रा, भय, शोक, रोग, आश्चर्य, मोह, जरा (बुढापा) खेद, प्रस्वेद, गर्व, द्वेष, रति, चिन्ता, राग, प्यास और भूख ये अठारह दोष सर्वज्ञ भगवान मे नही होते। क्योंकि दोषो की उत्पत्ति का कारण मोहनीय कर्म है और उन भगवान का मोहनीय कर्म सर्वथा क्षय हो चुका है।

जब तक ये दोष रहते हैं तब तक आत्मा परमात्मा नही हो पाता। दोषो के अभाव से आत्मा शुद्ध हो कर परमात्मा बन जाता है।

(कविवर प० बनारसीदास जी) माने हुए पाच प्रकार के जीव कौन से है?

१ डूंघा, २. चूंघा, ३ सूंघा, ४ ऊंघा, ५. घूंघा।

जिसका कर्म-कालिमा रहित अगम्य, अगाध और वचन अगोचर उत्कृष्ट पद है, वे सिद्ध भगवान् डूंघा जीव है।

दोहा — जाको परम दशा विषै, करम-कलंक न होइ।
डूंघा अगम अगाध पद, वचन अगोचर सोइ ॥१॥

चूंघा—जो ससार से विरक्त होकर आत्म-अनुभव का रस ग्रहण करता है और श्री गुरु के वचन बालकवत् दुग्ध के समान चूसता है, वह चूंघा जीव है।

दोहा जो उदास है जगत सौं, गहै परम रस प्रेम।
सो चूंघा गुरु के वचन चूंघै बालक जेम ॥२॥

सूंघा—जो गुरु वाणी का रुचि पूर्वक श्रवण करता है, और हृदय मे दुष्टता (अन्यभाव) नही है अर्थात सरल परिणामी है, लेकिन आत्मस्वरूप को नही पहचानता ऐसा मद कषायी जीव सूंघा है।

दोहा जो सुवचन रुचि सौं सुनै, हिये दुष्टता नाहि।
परमारथ समझै नहि, सो सूंघा जग माहि ॥३॥

ऊंघा—जिस सत् शास्त्र का उपदेश अच्छा नही लगता और विकथाओ मे अत्यन्त रुचि है, विषयो का अभिलाषी है तथा जो क्रोधी मानी तथा लोभी है ऐसा ऊंघा कहलाता है।

दोहा
जाको विकथा हित लगै, आगम अग अनिष्ट।
सो ऊघा विषयी, विकल, दुष्ट, रुष्ट, पापिष्ट ॥ ४॥

घूंघा—एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय जीव घूघा हैं। उनमे किसी प्रकार की धर्म प्राप्ति की योग्यता नही है। वे सुन भी नही सकते तथा विचार भी नही कर सकते।

दोहा
जाकै वचन, श्रवन नही, नहि मन सुरति विराभ।
जडतासो जडवत् भयो, घूघा ताको नाम ॥ ५॥

### तीन प्रकार की आत्मायें कौन सी हैं ?

वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदो मे समस्त जीवो का समावेश हो जाता है।

इन आत्माओ मे वहिरात्मा शुद्ध मोक्ष मार्ग साधक न होकर एक तरह मार्ग का विराधक ही समझना चाहिए। अन्तरात्मा मुक्ति पथ में गमन करने वाला है तथा परमात्मा ही साध्य है।

वहिरात्मा—जो वाह्य पदार्थ अर्थात् देहादि परवस्तुओ को अपनी मानकर उनमे आत्म-बुद्धि करता है तथा जिसे जीवादि सात तत्वो की यथार्थ श्रद्धा नही है, जगत् के शुभ तथा अशुभ सयोगों मे ही आसक्त है, आत्मा का यथार्थ भान नही है, वह वहिरात्मा है। एकेन्द्रिय से लगाकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक जीव इसी कोटि के हैं।

अन्तरात्मा—जो जीव, आत्मा को आत्मा और जड को जड रूप मे श्रद्धान करता है। आत्म सन्मुख है, ससार के विषय भोगो से अन्तरग मे विरक्त है। मोह के बन्धनो से छूटने का सतत प्रयत्न करता रहता है वह अन्तरात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव को अन्तरात्मा माना गया है।

परमात्मा—जो सर्व प्रकार की कर्म-कालिमा से सर्वथा मुक्त हो गया है, जो फिर शरीर धारण नही करता वह परमात्मा है। वह परमात्मा सशरीरी और अशरीरी के भेद से दो प्रकार का है।

अरहन्त परमात्मा सशरीरी परमात्मा है और सिद्ध भगवान् अशरीरी परमात्मा है।

वहिरात्म-भाव को छोडकर, अन्तरात्मा बनकर परम प दिश परमात्मा-दशा को प्राप्त करना चाहिए। अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान स्थित जीव जघन्य अन्तरात्मा और क्षीण कषाय नाम के बारहवें गुणस्थान स्थित आत्मा उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। चौथे और बारहवे गुणस्थान के मध्यवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा माने गये हैं।

विग्रह गति का क्या लक्षण है?

एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रह गति है।

"विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः" नवीन शरीर धारण करने के लिये जो जीव का गमन है वह विग्रह गति है। यह चार प्रकार की होती है—इषुगति, पाणिमुक्ता गति, लांगलिका गति और गोमूत्रिका गति।

इषुगति वाण की तरह सीधी होती है, इसमे एक समय लगता है। यह ससारी जीवो के भी होती है और सिद्ध जीवो के भी होती है। बाकी तीनो गतिया ससारी जीवो के ही होती हैं।

पाणिमुक्तागति एक मोडे वाली होती है, इसमे दो समय लगते है।

लागलिका गति दो मोडे वाली होती है, इसमे तीन समय लगते है।

गोमूत्रिका गति तीन मोडे वाली होती है, इसमे चार समय लगते हैं।

'ओं' शब्द से क्या समझना चाहिये?

'ओ' यह एक अक्षर का पच परमेष्ठी वाचक मत्र है। इसमे अर-हत का 'अ', सिद्ध भगवान् अशरीरी है इसलिये अशरीरी का 'अ' आचार्य परमेष्ठी का 'आ' उपाध्याय परमेष्ठी का 'उ' और साधु को मुनि कहते हैं इसलिए उसमे का 'म्'। इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म् पच परमेष्ठी वाचक एक-एक अक्षर मिलने पर ओम् शब्द बनता है।

ओकार के सम्बन्ध मे यह गाथा सर्वत्र देखने मे आता है।

गाथा—अरहता असरीरा आयरिया, तह उवज्झाय, मुणिणो।
पढमक्खर णिप्पणो, ओकारो पच परमेट्ठी।

**धर्म किसे कहते हैं ?**

जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र और मुनियो से वन्दनीय पद-मुक्ति स्थान मे धरता है उसे धर्म कहते है। जो ससार के प्राणियो का उद्धार करता है, अर्थात् जो दु खो से छुडाकर अपार आनन्द मे जीव को ले जाता है वह धर्म है। मुख्य धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग चारित्र है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्या चारित्र ही अधर्म है। इसी लिए स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहा है कि —

"सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदु ।
यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भव-पद्धति' ॥

सर्वज्ञ भगवान ने उस धर्म को कितने प्रकार का कहा है। एक आरम्भ और परिग्रह कुटुम्बादि से घिरे हुए गृहस्थो के लिये, दूसरा परिग्रही मुनियो के लिये। श्रावक का धर्म अहिसा अणुव्रत आदि रूप बारह प्रकार का है तथा मुनि धर्म क्षमादि दस प्रकार का है। वीतरागता ही आत्मा का मुख्य धर्म है और ये दोनो प्रकार के धर्म उसके ही साधन है। व्रत धारण करने से अन्तरग मे कषायो की परिणति मन्द होती जाती है। जितने अंशो मे राग भाव कम होता जाता है उतने अशो मे आत्मा मे यथार्थ-वीतराग धर्म का प्रगटना होती है। सच्चा श्रावक सर्व राग-परिग्रह का त्याग कर मुनि होने की इच्छा करता है। जिसके हृदय मे मुनि होने की इच्छा न हो तो वह श्रावक होने योग्य भी नही है। श्रावक के अप्रत्याख्यान कषाय का कुछ ऐसा उदय रहता है जिससे वह सर्व त्याग की इच्छा वाला होने पर भी त्यागने मे असमर्थ रहा करता है। परन्तु ज्यो ही उसे कषाय की मन्दता होती है त्यो ही वह सकल सयम (सर्वत्याग) को ग्रहण करता है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मे सारा ही ससार हेय है, इसमे उसे एक परमाणु मात्र भी उपादेय नही लगता। पूर्व कर्म के उदय से ही वह प्रवृत्ति मे रहता है।

संकल्प विकल्प का लक्षण क्या है ?

पुत्र, मित्र, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों मे 'ये मेरे है, यह कल्पना सकल्प है और अन्तरग मे 'मैं सुखी हूं, दुःखी हू इस प्रकार जो हर्ष विषाद करना वह विकल्प है।

"पुत्र—कलत्रादौ ममेदमिति कल्पना सकल्प'। अभ्यन्तरे सुख्यहं, दुःख्यहमिति हर्ष-विषाद-करण विकल्प इति।"

## कर्म और नो कर्म मे भेद

जो आत्मा के गुणो को घातता है अथवा गत्यादिक रूप आत्मा को पराधीन करता है, उसको कर्म कहते है—और नो कर्म इससे विपरीत न तो आत्मा के गुणो को घातता है और न आत्मा को पराधीन करता है। अर्थात् वह कर्म शरीर सहकारी है, इसलिए ईषत्कर्म अर्थात् उसे नो कर्म कहते हैं।

जीव विग्रह गति मे तीन समय तक अनाहारक रहता है, तो यहा अनाहारक शब्द से क्या समझना चाहिए ?

औदारिक, वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरो और १ आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ५ भाषा पर्याप्ति, और ६ मनः पर्याप्ति, ७ इन छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गल द्रव्य का ग्रहण करना आहार है।

जैसे भूख-प्यास लगने पर जीव पित्त अग्नि द्वारा अन्न-जल का आहार ग्रहण करता है। उसी प्रकार विशेष कर्मो का उदय होने पर योग द्वारा यह नो कर्म वर्गणाओ का आहार करता है। कारण नही मिलने पर विग्रह गति मे उस आहार का अभाव हो जाने से अनाहारक माना जाता है। उस विग्रह गति मे तीसरे आहारक शरीर की तो सभावना ही नही है। यह ससारी जीव एक समय तक, दो समय तक अथवा तीन समय तक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियो के योग्य नो कर्म वर्गणा स्वरूप पुद्गलो का ग्रहण नही करता।

जन्म कितनी प्रकार का है ?

जन्म के ३ भेद संमूर्च्छन जन्म, गर्भ जन्म और उपपाद जन्म।

संमूर्च्छन जन्म—अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओ के द्वारा माता-पिता के रज और वीर्य के बिना ही अवयवो की रचना होने को समूर्च्छन जन्म कहते है ॥१॥

**गर्भ जन्म**—स्त्री के उदर मे रज और वीर्य के सम्बन्ध से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं ॥२॥

**उपपाद जन्म**–माता-पिता के रज और वीर्य के विना देव नारकियो के निश्चित स्थान पर उत्पन्न होने को उपपाद जन्म कहते है ॥३॥

जू,-खटमल, कँचुआ आदि के समूर्च्छन जन्म होता है।

मनुष्य और पशुओ के गर्भ जन्म माना गया है।

देव और नारकियो के उपपाद जन्म होता है।

स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जू आदि तथा जमीन मे उगने वाली लता आदि सभी का जन्म इन जन्मो मे अन्तर्गत आ जाता है। इन तीन के सिवाय चौथा जन्म नही है। स्वेदज और उद्भिज जीवो का जन्म समूर्च्छन जन्म माना गया है।

कोई जन्म और योनि इन दोनो को एक ही मानते है। परन्तु ऐसा नही है। दोनो मे आधार आधेय का भेद है। योनि आधार है, और जन्म आधेय है। क्योंकि उत्पत्ति स्थान को योनि कहते है। और उत्पन्न होने के प्रकार को जन्म कहते है।

**मूल मे सचित्तादिक के भेद से योनि के नौ भेद**

१ सचित्त, २ अचित्त, ३ सचित्ताचित्त, ४ शीत, ५ उष्ण, ६ शीतोष्ण, ७ सवृत ८ विवृत तथा ९ सवृतविवृत।

आत्मा के चैतन्यान्वित विशेष परिणाम को चित्त कहते है और जो उससे सहित है, उस योनि का नाम सचित योनि है।

शीत उष्ण स्पर्श विशेष है, जो लोक मे प्रसिद्ध है। सवृत का अर्थ अच्छी तरह आच्छादित हो रहा प्रदेश, जिसे कठिनता से देख सकते है। उपर्युक्त लक्षणो से युक्त योनि को शीतादि योनि कहते है।

माता के उदर मे शुक्र शोणित तो अचित्त[1] है। किन्तु गर्भाशय

(१) [illegible]

का स्थान जीवित है। इसलिये गर्भजन्म वालो के—मिश्र सचित्ता-चित्त योनि होती है। तथा बाकी के जीवो की तीनो ही प्रकार की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त होती है। शीत उष्ण और उसके मिश्ररूप योनित्रय मे से गर्भ जन्मवाले तथा देवगति के मिश्ररूप शीतोष्ण योनि होती है। तेज काय वाले जीवो के उष्ण योनि होती है, किन्तु बाकी जीवो के तीनो ही प्रकार की योनि हुआ करती है।

संवृत, विवृत और उसके मिश्ररूप इन तीनो मे से नरकगति के तथा एकेंद्रिय जीवो के और देवो के संवृत योनि ही हुआ करती है। गर्भ जन्मवाले के मिश्र-संवृत विवृत, किन्तु बाकी के जीवो के तीनो ही संवृत और विवृत योनि हुआ करती है।

### ८४ लाख योनियाँ

कुछ-कुछ प्रदेशो की भिन्नता के कारण इन नव योनियो के ही ८४ लाख भेद हो जाते है। वे भेद इस प्रकार है—

नित्य निगोद, इतर नियोग, पृथ्वी काय, जलकाय, अग्निकाय वायु काय इन छह् मे से प्रत्येक के सात-सात लाख, प्रत्येक वनस्पति के १० लाख द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय इनमे प्रत्येक के दो-दो लाख शेष तिर्यंच, देव और नारकी इनमे प्रत्येक के चार लाख, तथा मनुष्यो के १४ लाख। ये गुणयोनि के भेद बताये है।

### आकृति योनि के भेद

शंखावर्त, कूर्मोन्नत तथा वंशपत्र।

शंखावर्त—जिसके भीतर शंख के समान चक्कर पडे हो, उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। इस योनि मे नियम से गर्भ नही रहता।

कूर्मोन्नत—इस योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री तथा बलभद्र आदि अन्य महान पुरुषो का जन्म होता है। यह योनि कछुए की पीठ की तरह उठी हुई होती है।

वंश पत्र—जो बास के पत्ते के समान लम्बी हो उसको वंश पत्र योनि कहते है। इस योनि मे साधारण मनुष्य ही उत्पन्न होते है।

## तिर्यंच जीव दो प्रकार के है ..

नाम कर्म की सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकार के कर्मो के उदय अनुसार हुए सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकार के जीव है। इन दो भेदो मे सूक्ष्म पृथ्वी अप्, तेज, वायु, वनस्पति कायिक सूक्ष्म तिर्यंच सम्पूर्ण लोक मे निवास कर रहे है । बादर (स्थूल) रूप मे परिणमन करने वाले पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और विकलेंद्रिय (दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय) तथा पचेन्द्रिय जीव तो नियत स्थान मे ही पाये जाते है। बादर जीवो की सर्वत्र प्राप्ति नही है।

## सर्व शास्त्रों के चार भाग किये है वे कौन से हैं ?

(१) **प्रथमानुयोग**—के शास्त्रो मे तीर्थंकर आदि त्रेसठ-शलाका पुरुषो, ऋषियो और महात्मा पुरुषो का जीवन-चरित्र का विशेष रूप से कथन रहता है। प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रन्थ इस प्रकार है—आदि पुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, विमलनाथ चरित्र, शातिनाथ चरित्र इत्यादि। इनकी स्वाध्याय करने से भव्य जीव ही रुचि रखता है, इन ग्रन्थो के अध्ययन से मनुष्य पाप कार्यो से डरकर पुण्य कार्य मे प्रवृत्त होता है तथा उसे आत्मा के नित्यत्व आदि धर्मो की दृढ श्रद्धा होती है।

(२) **करणानुयोग**—के ग्रन्थो मे लोक, अलोक का विभाग, युगो का परिवर्तन तथा चारो गतियो का विशेषता से वर्णन रहता है। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, त्रिलोक भास्कर आदि इस अनुयोग के महान् शास्त्र है। इन ग्रंथो के पठन-पाठन से मनुष्य की बुद्धि निर्मल होकर यथार्थ तत्त्व का निर्णय करने मे समर्थ होती है।

(३) **चरणानुयोग**—के शास्त्रो मे मुख्य रूप से मुनिचर्या तथा गृहस्थ चर्या का कथन रहा करता है। अर्थात् मुनियो के अट्ठाईस गुण और श्रावक के बारह व्रतो का कथन इस अनुयोग के ग्रंथो मे रहता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि ग्रन्थ गृहस्थचर्या समझने के लिये अति उपयोगी है। मूलाचार, अनगार धर्मामृत तथा

भगवती आराधना आदि विशाल ग्रन्थों से मुनिधर्म, का यथार्थ बोध हो सकता है। जीवन शुद्धि के लिए मुनि और गृहस्थ सबन्धी चर्या की अतीव आवश्यकता है।

(४) द्रव्यानुयोग—के आगमो मे जीव-अजीव आदि तत्त्वो का बहुत ही उत्तम कथन रहता है। पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आस्रव, सवर आदि का वास्तविक परिज्ञान होता है और उस ज्ञान से आत्म-श्रद्धा दृढ होकर स्वात्मा का शुद्ध अनुभव होता है। यह शुद्ध अनुभव ही मोक्ष का प्रधान कारण ह। मोहनीय का क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम भी जीवादि तत्त्वों के यथार्थ समझने मे ही होता है। इस अनुयोग का ज्ञान भेद ज्ञान मे अतिशय सहायक है।

यदि मन शकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग का विचार करना चाहिये। यदि मन प्रमादी हो गया हो तो चरणानुयोग का विचार करना उचित है। मन कषाययुक्त हो रहा हो तो 'धर्मकथानुयोग (प्रथमानुयोग) का विचार करना योग्य है और यदि मन जड जैसा शून्य बन गया हो तो करणानुयोग (गणितानुयोग) का विचार करना चाहिए। समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय ज्ञान तरगिणी आदि इस अनुयोग के उत्तम अध्ययन तथा मनन करने योग्य शास्त्र हैं।

## हिंसा के चार भेद है—

(१) संकल्पी हिंसा—जानबूझ कर किसी प्राणी की हत्या करना, जैसे शिकार खेलना या मछलिया पकडना।

(२) विरोधी हिंसा—शत्रु से अपनी, अपने परिवार की, धनादि की, किसी दुर्बल की रक्षा के लिये शत्रु से लडना। इस कार्य मे रक्षक को किसी के मारने की इच्छा नही होती, परन्तु बचाने की इच्छा होती है। बचाने के प्रयत्न मे जो हिंसा हो जाती है। वही विरोधी हिंसा है।

(३) उद्योगी हिंसा—श्रावक को व्यापार आदि कार्य, अपने तथा अपने कुटुम्बकी आजीविका के लिए करने पड़ते हैं और उनमे हिंसा अवश्य होती है यही उद्योगी हिंसा है।

(४) आरंभी हिंसा—गृहस्थी के कार्यों मे, अर्थात् रसोई बनाना,

पानी भरना, स्नान करना आदि मे जो हिंसा होती है, वह आरंभी हिंसा है। इन चार हिंसाओ से गृहस्थ-स्त्री पुरुष, मात्र संकल्पी, हिंसा के त्यागी होते हे।

श्रावक धर्म के नाम पर तथा रोगादि की शान्ति के लिए कभी भी किसी प्रकार से जीव हिंसा नही करता। वह सभी प्राणियो को सुखी देखना चाहता हे। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का सिद्धान्त सदा सदा उसकी आखो के सम्मुख रहता है।

## चार प्रकार के उपसर्ग-अचेतन-कृतोपसर्ग, मनुष्य-कृतोपसर्ग, तिर्यक्कृतोपसर्गतथा देवकृतोपसर्ग।

सदृष्टान्त उपसर्गो की परिभाषा—

शिवभूति महामुनि के ऊपर घास की गंजी हवा से उडकर आ पडी थी। उस समय उन्होने निर्विकल्प वृत्ति से शुद्ध-आत्मा का ध्यान किया था। इसलिये वे तत्काल निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

अचेतन पदार्थों द्वारा यदि कोई उपसर्ग आ जाय तो उसको समता पूर्वक सहन करना चाहिए। ऊपर का दृष्टान्त अचेतन उपसर्ग का दृष्टान्त है।

### मनुष्यकृत उपसर्ग

मनुष्य द्वारा जो उपसर्ग किया जाता है अर्थात् दुःख दिया जाता है वह मनुष्यकृत उपसर्ग है।

महामना पाण्डव जब दीक्षा धारण कर शत्रुंजय पर्वत पर एकाग्र चित्त से संसार की ममता छोडकर तपस्या कर रहे थे तब कौरवों के भानजे आदि ने पूर्वागत वैर वश, वैर, का बदला लेने के लिए 'तुम्हारे लिए ये सुवर्ण के आभूषण हैं' इस प्रकार तीव्र कषाय पूर्वक दुष्ट बुद्धि से लोहे की गरमागरम—लाल लाल तप्तायमान मालाएं पहना कर वर्तमान मे लोहे की कीलो से उनके पैर ठोक दिए थे। परन्तु उन्होंने इस घोर उपसर्ग पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और आत्म ध्यान में लीन रहे। इससे युधिष्ठिर भीमसेन और अर्जुन मुक्ति को प्राप्त हुए तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए, यह मनुष्यकृत उपसर्ग का दृष्टान्त है।

## तिर्यंचकृत उपसर्ग

सुकुमाल महामुनि अति सुकोमल थे। जिस समय वे तप के लिए वन में गये तथा घोर तप करने लगे, उस समय वहा उनकी पूर्वभव की वैरिन मा के जीव ने (जो उसी वन मे शृगालिनी हुई थी) अतिशय निर्दयता पूर्वक उनका भक्षण किया, परन्तु सुकुमाल महामुनि आत्म ध्यान रूपी सिद्धि मार्ग से तनिक भी विचलित नही हुए, यह तिर्यंचकृत (पशुकृत) घोरोपसर्ग का उदाहरण है।

### देवकृत उपसर्ग का उदाहरण

देवो के द्वारा जो उपसर्ग किया जाता है वह देवकृत उपसर्ग है। अतिक्रुद्ध अधम व्यन्तरो के द्वारा की गई अत्यन्त असह्य और भयकर बाधाओ मे इतर मुनिजनो के इधर उधर चले जाने पर भी विद्युच्चर मुनि इस घोर उपसर्ग से विचलित नही हुए। किन्तु आत्मा मे लीन होकर मुक्त हुए। यह देवकृत उपसर्ग सहन का दृष्टान्त है।

### भव्य अभव्य जीव

भव्य—जिन जीवो की अनन्त चतुष्टय रूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हो उनको भव्य कहते है।

अभव्य—जिनमेये दोनो लक्षण घटित न हो वे अभव्य है।

कितने ही भव्य जीव भी ऐसे है जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य न होगे। जैसे वन्ध्यापन के दोप से रहित विधवा सती स्त्री मे पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है, परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नही होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे है जो नियम से मुक्त होगे। जैसे वन्ध्यत्व दोप से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस प्रकार स्वभाव भेद के कारण भव्य दो प्रकार के है। इन दोनो स्वभावो से जो रहित है, उनको अभव्य कहते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि कितने ही भव्यो को मोक्ष के निमित्त मिलने पर भी सिद्धत्व नही प्राप्त होता। दूसरे प्रकार के भव्यो को मोक्ष के कारण मिलने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

इसके लिये कनकोपल दृष्टात है—जैसे कि वहुत से कनकोपल ऐसे है जिनमे निमित्त मिलाने पर शुद्ध सुवर्णरूप होने की योग्यता

पर्यन्त के सब भवो मे इस जीव ने मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक वार भ्रमण किया है।"

## भाव परिवर्तन

सैनी जीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के कारण तथा अनुभाग के कारण अनेक प्रकार की कषायो से तथा योगस्थानो से वर्धमान भाव ससार मे परिभ्रमण करता है अर्थात् योगस्थान, अनुभागबन्धावसाय स्थान, कषायाध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। इस प्रकार सक्षेप से परिवर्तनो का स्वरूप समझना चाहिये।

## असंख्यात गुणी निर्जरा का क्रम है ?

*मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असख्यात गुणी निर्जरा होती है।* सम्यग्दृष्टि से अणुव्रत धारी के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। अणुव्रतधारी से ज्ञानी महाव्रती के असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। महाव्रती से अनन्तानुबन्धी कषाय का विसयोजन करने वाले के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे दर्शन मोहनीय का क्षपण-विनाश करने वाले के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे उपशम श्रेणी के आठवें, नौवे तथा दसवे गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय का उपशम करने वाले के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे ग्यारहवें गुणस्थानवाले उपशमक के असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे क्षपक श्रेणी के आठवे, नौवे और दसवे गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय का क्षय करने वाले के असख्यात गुणी निर्जरा होती है। उससे बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान वाले के असख्यात गुणी निर्जरा होती है। उससे सयोग केवली के असख्यात गुणी निर्जरा होती है। उससे अयोग केवली भगवान् के असख्यात गुणी निर्जरा होती है। परिणामो की विशुद्धता से उनके उत्तरोत्तर प्रति समय असख्यात गुणी, असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

तत्त्वार्थ सूत्र मे असख्यात गुणी निर्जरा के दस स्थान है। परन्तु स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका के अनुसार यहा पर ग्यारह स्थान लिखे है।

(१) क्षयोपशम (२) विशुद्धि, (३) देशना (४) प्रायोग्य और (५) करण ये पाच लब्धिया सम्यक्त्व मे कारण मानी गई है।

क्षयोपशम लब्धि —कर्मो में मैल रूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय अनन्त गुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है, उस काल मे क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशुद्धि—पहली (क्षयोपशम) लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियो के बधने का कारण शुभ परिणाम उसकी प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते है। अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से सक्लेश की हानि और विपक्षी विशुद्धपने की वृद्धि होती है।

देशना छह द्रव्य और नौ पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्य आदि का लाभ अर्थात् उनके द्वारा उपदेश का मिलना अथवा उपदिष्ट पदार्थों के ग्रहण धारण करने की प्राप्ति होना देशना लब्धि है।

प्रायोग्य—पूर्वोक्त तीन लब्धि वाला जीव प्रति समय विशुद्धता की वृद्धि से आयु के विना सात कर्मों की स्थिति घटाता हुआ अन्त कोडाकोटि मात्र रखे और कर्मों की फल देने की शक्ति को भी निर्बल बना दे ऐसे कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति को प्रायोग्य लब्धि कहते है। वह सामान्य रीति से भव्य जीव और अभव्य जीव दोनो के ही हो सकती है।

करण—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण रूप परिणामो को करण लब्धि कहते है। लब्धि का अर्थ प्राप्ति है। यहा सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप सामग्री का नाम लब्धि है। करण लब्धि भव्य जीव के ही होती है—बाकी की चार दोनो प्रकार के जीवो को होती है।

किस अवस्था मे जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है—जो जीव चार गतियो मे से किसी एक गति का धारक, तथा भव्य सज्ञी (मन वाला) पर्याप्त, विशुद्धि वाला-मन्दकषायरूप परिणति से युक्त, जागृत-स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओ से रहित, साकार-ज्ञानोपयोग

युक्त और शुभ लेश्या का धारक होकर कारण रूप परिणामो का धारक होता है वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता हे।

चारो गति मे से किसी भी गति मे रहने वाले जीव के चार प्रकार आयु मे से किसी भी आयु का वन्ध होने पर भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है– इसमे कोई वाधा नही हे। किन्तु अणुव्रत या महाव्रत उसी जीव के हो सकते है, जिसके चार आयु मे से केवल देवायु का ही, वध हुआ हो, अथवा किसी भी आयु का वन्ध न हुआ हो। नरकायु, तिर्यगायु और मनुष्यायु का वध करने वाले सम्यग्दृष्टि के पहले इन तीन आयुओ मे से किसी भी आयु का वन्ध हो जाने पर पुन सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव के अणुव्रत या महाव्रत नही होते।

उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा दोनो समान है, क्योकि प्रतिपक्षी कर्मो का उदय दोनो ही सम्यक्त्वो मे नही है। लेकिन इतनी विशेषता है कि क्षायिक सम्यक्त्व मे सात प्रकृतियो अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान माया और लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय रहता हे और उपशम सम्यक्त्व मे उन ही प्रकृतियो का उपशम रहता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन के होने पर या तो जीव का उस ही भव मे सिद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है और यदि देवायु का वन्ध हो गया हो तो तीसरे भव मे मुक्ति प्राप्त पद प्राप्त करता है। यदि सम्यग्दर्शन से पूर्व मिथ्यात्व अवस्था मे मनुष्य या तिर्यञ्च आयु का वन्ध हो गया हो तो चौथे भव मे जीव सिद्ध होता है। किन्तु चतुर्थ भव का उल्लंघन नही करता। यह क्षायिक सम्यक्त्व सादि-अनन्त है।

अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होने का जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में (निकट) ही होता है, तथा उसका प्रारंभ करने वाला कर्मभूमि में उत्पन्न वाला मनुष्य ही होता है। यदि कदाचित् पूर्णक्षय होने के प्रथम ही मरण हो जाय तो उसकी क्षपण की समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है। (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

## लेश्या शब्द की व्याख्या

कषायोदय से अनुरक्त योग (मन, वचन, काय) की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कर्म-बन्ध में ये दो मुख्य रूप काम करते हैं। १ कषायों से अनुभाग बन्ध और स्थितिबन्ध होता है तथा २ योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। बन्ध में कषाय भाव की मुख्यता है। जहां कषायोदय नहीं है वहां पर केवल योग को भी उपचार से लेश्या मान लिया जाता है। शुभ-अशुभ लेश्याओं में ही समस्त शुभ-अशुभ परिणामों का समावेश हो जाता है। आगम में उन परिणामों को छः भागों में विभक्त कर दिया है। लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम ३ लेश्यायें अशुभ हैं और अन्त की तीन लेश्यायें शुभ हैं।

लेश्याओं का भाव समझने के लिए श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। उस पर से कृष्णादि लेश्याओं के भावों का अच्छी तरह से परिज्ञान हो सकता है।

कृष्ण आदि छह लेश्यावाले कोई छह पथिक वन के मध्य में मार्ग में भ्रष्ट होकर फलों से पूर्ण किसी वृक्ष को देखकर अपने-अपने मन में इस प्रकार विचार करते हैं। और उसके अनुसार वचन कहते हैं। कृष्ण लेश्या वाला विचार करता है और कहता है कि 'मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर इसके फलों का भक्षण करूंगा। नील लेश्यावाला विचारता है और कहता है कि "मैं इस वृक्ष को तने से काटकर इसके फल खाऊंगा।" कापोत लेश्या वाला विचारता है और कहता है कि "मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर इसके फलों का भक्षण करूंगा।"

युक्त और शुभ लेश्या का धारक होकर कारण रूप परिणामो का धारक होता है वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

चारो गति मे से किसी भी गति मे रहने वाले जीव के चार प्रकार आयु मे से किसी भी आयु का बन्ध होने पर भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है– इसमे कोई बाधा नही है। किन्तु अणुव्रत या महाव्रत उसी जीव के हो सकते है, जिसके चार आयु मे से केवल देवायु का ही, बध हुआ हो, अथवा किसी भी आयु का बन्ध न हुआ हो। नरकायु, तिर्यगायु और मनुष्यायु का बध करने वाले सम्यग्दृष्टि के पहले इन तीन आयुओ मे से किसी भी आयु का बन्ध हो जाने पर पुन सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव के अणुव्रत या महाव्रत नही होते।

उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा दोनो समान है, क्योकि प्रतिपक्षी कर्मो का उदय दोनो ही सम्यक्त्वो मे नही है। लेकिन इतनी विशेषता है कि क्षायिक सम्यक्त्व मे सात प्रकृतियो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया और लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय रहता है और उपशम सम्यक्त्व मे इन ही प्रकृतियो का उपशम रहता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन के होने पर या तो जीव को उस ही भव मे सिद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है और यदि देवायु का बन्ध हो गया हो तो तीसरे भव मे मुक्ति प्राप्त पद प्राप्त करता है। यदि सम्यग्दर्शन के पूर्व मिथ्यात्व अवस्था मे मनुष्य या तिर्यच आयु का बन्ध हो गया हो तो चौथे भव मे जीव सिद्ध होता है। किन्तु चतुर्थ भव का अतिक्रमण नही करता। यह क्षायिक सम्यक्त्व सादि-अनन्त है। अर्थात् यह जीवन मे एक ही बार होता है फिर कभी छूटता नही है—अनन्त काल तक रहता है। औपशमिक तथा क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन की तरह छूट नही जाता।

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का प्रारम्भ केवली के पाद मूल मे कर्मभूमि का उत्पन्न होने वाला मनुष्य ही करता है तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है।

अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होने का जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे (निकट) ही होता है, तथा उसका प्रारम्भ करने वाला कर्मभूमि मे उत्पन्न वाला मनुष्य ही होता है। यदि कदाचित् पूर्णक्षय होने के प्रथम ही मरण हो जाय तो उसकी क्षपण की समाप्ति चारों गतियो मे से किसी भी गति मे हो सकती है। (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

### लेश्या शब्द की व्याख्या

कषायोदय से अनुरक्त योग (मन, वचन, काय) की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कर्म-बन्ध में ये दो मुख्य रूप काम करते हैं। १ कषायों से अनुभाग बन्ध और स्थितिबन्ध होता है तथा २ योगो से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। बन्ध में कषाय भाव की मुख्यता है। जहा कषायोदय नहीं है वहा पर केवल योग को भी उपचार से लेश्या मान लिया जाता है। शुभ-अशुभ लेश्याओं मे ही समस्त शुभ-अशुभ परिणामो का समावेश हो जाता है। आगम में उन परिणामो को छ भागो में विभक्त कर दिया है। लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इनमे प्रथम ३ लेश्यायें अशुभ हैं और अन्त की तीन लेश्यायें शुभ हैं।

लेश्याओं का भाव समझने के लिए श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। उस पर से कृष्णादि लेश्याओं के भावों का अच्छी तरह से परिज्ञान हो सकता है।

कृष्ण आदि छह लेश्यावाले कोई छह पथिक वन के मध्य में मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से पूर्ण किसी वृक्ष को देखकर अपने-अपने मन में इस प्रकार विचार करते हैं। और उसके अनुसार वचन कहते हैं। कृष्ण लेश्या वाला विचार करता है और कहता है कि 'मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर उसके फलों का भक्षण करूंगा। नील लेश्यावाला विचारता है और कहता है कि 'मैं इस वृक्ष को तने से काटकर इसके फल खाऊंगा।' कापोत लेश्या वाला विचारता है और कहता है कि "मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर इसके फलों का भक्षण करूंगा।"

पीत लेश्या वाला विचारता है और कहता है कि "मै इस वृक्ष की छोटी शाखाओ को काटकर इसके फलो को खाऊगा।"

पद्मलेश्या वाला विचारता है और कहता है कि "मै इस वृक्ष के फलो को तोडकर खाऊगा।

शुक्ल लेश्या वाला विचारता है और कहता है कि "मै इस वृक्ष से स्वय टूट कर पडे हुए फलो को खाऊगा।"

इस तरह जो मन पूर्वक वचनादि की प्रवृत्ति होती है वह लेश्या का कर्म है।

## लेश्याओ के लक्षण

**कृष्ण लेश्या वालो के लक्षण**—तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोडे, युद्ध (लडने) के स्वभाव वाला हो, धर्म तथा करुणा रहित हो, जो किसी के आधीन न हो, ये सब कृष्ण लेश्या वाले के लक्षण है।

### नील लेश्या वालो के लक्षण—

कार्य करने मे मन्द हो, बुद्धिहीन हो, विवेकरहित हो, स्पर्शनादि पाच इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त हो, यानी, मायवी तथा लोभी और आलसी हो, गूढ अभिप्राय वाला हो, अति निद्रालु तथा दूसरो को ठगने मे निपुण हो और धन धान्य की तीव्र लालसा रखता हो, ये सब नील लेश्या वाले के चिन्ह है।

### कापोत लेश्या वालो का चिह्न—

दूसरो पर क्रोध करना, पर की निन्दा करना, किसी पर दोषारोपण करना, दूसरो को दुःख देना, औरो से वैर करना, अधिकतर शोकाकुलित तथा भयग्रस्त रहना या होना, दूसरो के ऐश्वर्यादि को सहन न करना, किसी का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार से प्रशसा करना, दूसरे के ऊपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरो को भी मानना, स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होना, मान मे आकर अपनी हानि या वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण मे मरने की प्रार्थना करना, अपनी प्रशसा करने वाले को खूब धन देना इत्यादि कापोत लेश्या के लक्षण है।

### पीत लेश्या के चिह्न—

अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सब में समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो, मन, वचन और काय की क्रियाओं में सरलता इत्यादि कापोत लेश्या वाले के चिह्न हैं।

### पद्म लेश्या का लक्षण—

दान देने वाला हो, भद्र परिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, कष्ट रूप तथा अनिष्ट रूप उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनि तथा सज्जन पुरुषों के आदर-सत्कार में तत्पर हो, इत्यादि लक्षण पद्म लेश्या के हैं।

### शुक्ल लेश्या वालों के लक्षण—

जो पक्षपात न करता हो, निदान न करता हो, सर्वत्र समता रखता हो, इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष न करता हो, स्त्री-पुत्र आदि संयोगों में स्नेह रहित हो ऐसा जीव शुक्ल लेश्या वाला कहा जाता है।

लेश्याओं के द्रव्य और भाव के भेद से दो भेद हो जाते हैं। शरीर के वर्ण-रंग को द्रव्य लेश्या और कषाय आदि भावों का नाम—भाव लेश्या है।

### भविष्य भव की आयु का बन्ध किस काल में है?

कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंच की भुज्यमान (चालू) आयु दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पर—भव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि तब बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में परभव की आयु का बन्ध होता है। यदि वहां पर भी आयु का बन्ध न हुआ तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें और आठवें त्रिभाग में से किसी में भी आयु का बन्ध हो जाता है।

यदि आठों में भी किसी आयु का बन्ध न हो तो मृत्यु के (अव्यवहित) पूर्व अन्तर्मुहूर्त में परभव की आयु का बन्ध अवश्य हो जाता है।

जैसे किसी मनुष्य की आयु ८१ वर्ष की है निम्न अनुसार आठ बार आयु बन्ध का काल आवेगा—

(१) ५४ वर्ष बीतने पर २७ वर्ष शेष रहने पर
(२) ७२ ,, ९ ,,
(३) ७८ ,, ३ ,,
(४) ८० ,, १ ,,
(५) ८० ८ मास बीतने तथा ४ मास शेष रहने पर
(६) ८० २ मास २० दिन बीतने ४० दिन शेष रहने पर
(७) ८० ३ मास १६ दिन १६ घटे बीतने पर
१३ दिन ८ घटे वाकी रहने पर
(८) ८० २५ दिन १४ घटे बीतने पर
४ दिन १० घटे रहने पर।

जीवो के दो भेद होते है। एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विप भक्षणादि निमित्त के द्वारा मरण सभव हो, उनको सोपक्रमायुष्क कहते है। और जो इससे रहित है, उनको अनुपक्रमायुष्क कहते है। जो सोपक्रमायुष्क है उनके तो उक्त रीति से परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध होता है। किन्तु अनुपक्रमायुष्को मे कुछ भेद है। देव नारकी अनुपक्रमायुष्क है अर्थात् इनका कभी भी बीच मे मरण नही होता। वे पूर्ण आयु को भोग के ही मरते है। देव और नारकी अपनी आयु के अन्तिम छह महीना शेष रहने पर परभव की आयु वन्ध करने के योग्य होते है। इसमे भी छह महीना के आठ अपकर्षकाल मे ही आयु का वन्ध करते है—दूसरे काल मे नही।

भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच अपनी आयु के अन्तिम नौ महीने वाकी रहने पर उन्ही नौ महीनो के आठ अपकर्षो मे से किसी अपकर्ष मे आयु का वन्ध करते है।[1]

ज्ञानावरणादि सात कर्मो का जीव निरन्तर वन्ध करता रहता है परन्तु आयु का वन्ध अपने जीवन के आयु के दो भाग वीतने पर तीसरे भाग मे परभव सम्बन्धी आयु वन्ध होता है।

फौन-कौन से द्रव्य स्थिर हैं ?

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव ये अपने स्थान से कभी चलायमान नही होते तथा एक स्थान पर रहते हुए भी इनके प्रदेश कभी सकम्प नही होते। परन्तु ससारी जीव अनवस्थित हैं और उनके प्रदेश भी तीन प्रकार के होते हैं। चल भी होते हैं, अचल भी होते हैं तथा चलाचल भी होते हैं।

विग्रहगति वाले जीवो के प्रदेश चल ही होते हैं और शेष जीवो के प्रदेश चलाचल होते हैं। आठ मध्यप्रदेश अचल होते हैं और शेष प्रदेशचलित हैं।

## पाच प्रकार के शरीर—

औदारिक—वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाच प्रकार के शरीर हैं।

औदारिक स्थूल शरीर को कहते हैं जो दूसरो से रुक सकता है तथा जो दूसरो को रोक सकता है। परन्तु एकेंद्रिय सूक्ष्म जीवो के जो शरीर होता है, वह किसी से रुकता नही है तथा किसी को रोकता नही है फिर भी औदारिक माना गया है। इसलिए ऊपर की व्याख्या तो शब्द के अनुसार है। मूल व्याख्या औदारिक नाम कर्म के उदय से जो शरीर होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। यह शरीर मनुष्य और तिर्यचो के होता है।

वैक्रियिक नाम कर्म के उदय होने पर जो विक्रिया—विविध-करणता-बहुरूपता अर्थात् अनेक रूप तथा बडा छोटा आदि रूप धारण करना है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह शरीर देव और नारकियो के होता है। देवो के शुभ विक्रिया और नारकियो के अशुभ विक्रिया होती है।

आहारक शरीर—सूक्ष्मपदार्थ के निर्णय के लिए या सयम की रक्षा के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती महामुनि के मस्तक से एक हाथ का जो सफेद रग का पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर—जिससे शरीर मे तेज रहता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कार्माण शरीर - कार्माणद्वारा बना—ज्ञानावरणादि आठ कर्म समुदाय रूप शरीर अथवा उन कर्मों का समूह कार्माण शरीर है।

तैजस और कार्माण ये दो शरीर अनादि काल से हर जीव के चले आ रहे हैं।

एक जीव के एक साथ तैजस, कार्माण को लेकर चार शरीर हो सकते हैं। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस, कार्माण। तीन हों तो तैजस, कार्माण और औदारिक अथवा औदारिक की जगह वैक्रियिक। यदि चार हों तो तैजस, कार्माण, औदारिक और आहारक अथवा तैजस, कार्माण औदारिक और वैक्रियिक होते हैं।

यद्यपि वैक्रियिक योग द्वारा ग्रहण की गई आहारवर्गणा द्वारा, अपने पुरुषार्थ से देव और नारकी जो शरीर बनाते हैं अथवा पाते हैं, उसे ही वास्तविक वैक्रियिक शरीर कहते हैं।

कितने तेजकायिक, वायुकायिक या किसी-किसी पचेंद्रिय तिर्यच अथवा भोग भूमिया, चक्रवर्ती आदि मनुष्यों के जो पृथक् या अपृथक् विक्रियात्मक शरीर होता है, उसे भी वैक्रियिक शरीर कहते हैं।

एक साथ पाच शरीर किसी के सभव नहीं है। क्योंकि आहारक और वैक्रियिक शरीर एक साथ नहीं रहते।

## अठारह हजार शील के भेद—

जिन शासन मे शील के अठारह हजार भेद कहे है जो इस प्रकार है—

स्त्री दो प्रकार की होती है। एक अचेतन दूसरी चेतन। अचेतन स्त्री के तीन प्रकार है—काष्ठ की, पाषाण की और रग वगैरह से निर्माण की गई। इन तीनों भेदों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन छह भेदों से गुणा करने पर १८ भेद होते हैं। इनको पाच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कान) से गुणा करने पर १८×५=९० भेद होते हैं।

इनको द्रव्य और भाव से गुणा करने ९०×२=१८० एक सौ अस्सी भेद होते हैं। इन भेदों को चार कषाय—(क्रोध, मान, माया, लोभ) से गुणा करने पर ७२० सात सौ बीस भेद हुए। चेतन स्त्री के भी तीन प्रकार है। देवाङ्गना, मानुषी और तिर्यचनी। इनको

कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर ३×३=९ भेद हुए। ९ को मन, वचन, काय इन तीन से गुणा करने पर २७ भेद होते हैं। उन्हें पांच इन्द्रियो से गुणा करने पर २७×५=१३५ होते हैं। उन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर १३५×२=२७० भेद होते हैं। उनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओ से गुणा करने पर २७०×४=१०८० एक हजार अस्सी हुए। उनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन सोलह कषायो से गुणा करने पर १०८०×१६= १७२८० सतरह हजार दो सौ अस्सी भेद होते है। इनमे अचेतन स्त्री के ७२० सात सौ वीस भेद मिला देने से अठारह हजार भेद होते है। ये सब विकार के भेद हैं। इन विकारो के त्यागने से अठारह हजार शील के भेद हो जाते हैं।

सत्य वचन के दस भेद—

(१) नाम सत्य—सचेतन-सजीव अचेतन-अजीव वस्तु मे नामानुसार गुण न होने पर भी लोक व्यवहार चलाने के लिये जो नाम रख लिया जाता है उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे कि किसी गरीब बच्चे का नाम धनपति रख देना। बच्चे मे वैसा गुण नही है अर्थात् वह धनपति नहीं है फिर भी लोक व्यवहार के लिये अपनी इच्छानुसार नाम रख लिये जाते हैं।

(२) रूप सत्य—पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणो में से रूप की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको रूप सत्य कहते है। जैसे किसी मनुष्य को काला कहना। यद्यपि उसके शरीर मे अन्य वर्ण भी है परन्तु कृष्णता की प्रधानता से उसे काला कह दिया जाता है।

(३) स्थापना सत्य—मूल वस्तु के न होते हुए भी प्रयोजनवश जो किसी वस्तु में किसी की स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते है। यह स्थापना भी दो प्रकार की है। एक साकार और निराकार। साकार मे मूल वस्तु जैसा आकार-आकृति बनाकर उसकी स्थापना की जाती है और निराकार स्थापना के लिये आकार की जरूरत नही पडती। किसी पदार्थ मे स्थापना की जा सकती है।

साकार का दृष्टान्त जैसे महावीर स्वामी की प्रतिमा मे महावीर भगवान की स्थापना करना। निराकार का उदाहरण जैसे शतरज की गोटियो मे हाथी घोडो की स्थापना।

(४) **प्रतीत्य सत्य**—एक दूसरे की अपेक्षा से जो वचन कहा जाता है, वह प्रतीत्य सत्य है। जैसे अमुक मनुष्य लम्बा है। छोटे की अपेक्षा लम्बा कहा जाता है।

(५) **संवृति सत्य**—जो वचन लोक मे प्रचलित व्यवहार के आश्रय से कहा जाता है, वह सवृति सत्य है जैसे कमल पृथिवी आदि अनेक कारणो से उत्पन्न होने पर भी कमल को पकज करना। पकज जो कीचड से उत्पन्न होता है।

(६) **संयोजना सत्य**—चूर्ण इत्यादि से जो माडना आदि की स्थापना की जाती है, उसमे जो यह कहा जाता है कि यह अमुक द्वीप है, अमुक जिनालय है। इसे सयोजना सत्य कहते है।

(७) **जनपद सत्य**—जिस देश की जो भाषा हो वैसा ही कहना जनपद सत्य है। इस सत्य मे भिन्न-भिन्न भाषा के शब्दो से एक ही वस्तु को कहा जाता है। जैसे भात, भक्त, भाटु इत्यादि शब्द एक भात को ही कहने वाले है।

(८) **देश सत्य**—ग्राम नगर आदि का कथन करने वाले वचन को देश सत्य कहते हे। जैसे जिसके चारो ओर बाड हो वह गाव है।

(९) **भाव सत्य**—आगमोक्त विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थो मे सकल्पित परिणामो को भाव कहते है, उसके आश्रित जो वचन हो उसको भाव सत्य कहते है। जैसे शुष्क, पक्व, तप्त और नमक मिर्च खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है। यहा पर यद्यपि सूक्ष्म जीवो को इन्द्रियो से देख नही सकते तथापि आगम प्रामाण्य से उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है। इसलिये इसी तरह के पापवर्ज वचन को भाव सत्य कहते है।

(१०) **समय सत्य**—जो वस्तु आगम का विषय है, उसे आगम के अनुसार ही कहना समय सत्य है। जैसे पल्य और सागर आदि के प्रमाण का कथन करना।

गोम्मटसार जीवकाड मे सत्य के दस भेद इस प्रकार से मिलते हैं—

जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीत्य सत्य, व्यवहार सत्य, सभावना सत्य भावसत्य तथा उपमा सत्य।

संभावना सत्य—असभवना का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को सभावना सत्य है। जैसे इन्द्र (शक्र) जम्बूद्वीप को लौट दे सकता अथवा उलट सकता है।

उपमा सत्य—दूसरे प्रसिद्ध पदार्थ को उपमा कहते है। उसका आधार लेकर जो वचन बोले जाते है उसे उपमा सत्य कहते हैं। जैसे पल्य सागर आदि। बाकी के सभी भेद एक से हैं।

यह आत्मा ही तीर्थ रूप होता है—

रयणत्तय-संजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं
संसारं तरइ जदो रयणत्तय दिव्व-णावाए ॥१॥

अर्थ—रत्नत्रय युक्त जीव ही उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रय रूपी दिव्य नाव से ससार को पार करता है।

जिसके द्वारा ससार को तिरा जावे उसे तीर्थ कहते है। निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र वाला आत्मा ही वास्तव मे उत्तम तीर्थ है। निर्वाण क्षेत्र आदि द्रव्य तीर्थ है और शुद्धात्मा स्वयमेव भाव तीर्थ है। रत्नत्रय आत्मा ही महान तीर्थ है; इसकी आराधनासे आत्मा भव-समुद्र को सहज मे पार कर जाता है। द्रव्य तीर्थों की यात्रा आत्मा रूप तीर्थ को समझने के लिये है।

चक्रवर्ती की नव निधिया और चौदह रत्न तथा उनका कार्य—

(१) पाण्डुनिधि—भूख-प्यास के हरने वाले उर्द, चने, गेहूं, तिल, धान, चावल, जव, मूग, अरहर आदि धान्यों का देती है।

(२) पिंगल निधि—रत्नो की कान्ति से मनोहर इच्छित सुन्दर कुण्डल, हार, अगूठी आदि आभूषणो को प्रदान करती है।

(३) काल निधि—सब ऋतुओ मे होने वाले वृक्ष-लता आदि वनस्पतियो, वाच्छित फलो और पल्लवों (पत्तों) को देती है।

(४) शंख निधि—तम्बूरा, ढोल, वीणा आदि कानों को सुख देने वाले बाजे देती है।

(५) पद्मनिधि—सुन्दर, सूक्ष्म और कोमल वस्त्रों को प्रदान करती है।

(६) महाकाल निधि—सुन्दर तांबे, सुवर्ण, शीशे चांदी और लोहे के बने सब मन्दिर (घर) के सामान देता है।

(७) माणव निधि—बाण, चक्र, मुद्गर आदि शत्रुओं को नष्ट करने वाले धार वाले, शस्त्रों को देती है।

(८) नैसर्प निधि—तकिया, बिछौना, पलंग आदि सब देह को आराम पहुंचाने वाली कोमल वस्तुएँ देती है।

(९) सर्व रत्ननिधि—राजा चक्रवर्ती को सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाली होती है।

## चौदह रत्न

(१) चक्र रत्न—इस चक्र के प्रभाव से सभी शत्रु चक्रवर्ती के वश हो जाते हैं।

(२) खड्गरत्न—शत्रु को जीतने वाला होता है।

(३) छत्र रत्न—वज्र, धूल, जल और घाम को रोकने वाला होता है।

(४) चर्मरत्न—समुद्र के जल में तैर जाने आदि कामों में उपयोग आने वाला होता है।

(५) दण्ड रत्न—वज्र तथा पर्वत आदि तोड़ने के काम में आता है। ऊंच-नीचे मार्ग को समान करता है।

(६) काकिणी रत्न—अन्धकार दूर करने के काम में आता है।

(७) चूड़ामणि रत्न—आभूषण प्रदान करता है।

(८) स्त्रीरत्न—चक्रवर्ती राजा को सब प्रकार से आनन्द प्रदान करती है।

(९) गजरत्न—ऐरावत के समान विशाल हाथी चक्रवर्ती की सम्पत्ति में विशेषता करता है।

अश्वरत्न—उत्तम घोडा, जिस पर चढकर चक्रवर्ती अपने विरोधियो को जीतता है।

(११) सेनापति रत्न—यह चक्रवर्ती की सेना का नायक होता है।

(१२) पुरोहित रत्न—अशुभ ग्रहो से आई हुई आपत्तियो को दूर करने वाली शुभ क्रियाओ का करने वाला पुरोहित रत्न है।

(१३) शिल्पि रत्न—अभिलाषा करते ही उसी समय इन्द्र के महलो के समान भवनो को बनाने वाला शिल्पिरत्न है।

(१४) गृहपति रत्न—अपने चित्त पटल पर ही आमदनी खर्च हिसाब नोट करने वाला, गृह कार्य मे निपुण, लोक-चरित्र का ज्ञाता, उदार और बुद्धिशाली गृहपति रत्न होता है।

## आठ प्रकार की शुद्धियां

भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासन शुद्धि और वाक्शुद्धि।

१ भाव शुद्धि—कर्मो के क्षयोपशम से आत्म परिणामो मे जो निर्मलता आती है, उसे भाव शुद्धि कहते है। जैसे स्वच्छ दीवार पर की गई चित्रकारी शोभित होती है वैसे ही भाव शुद्धि के होने पर आचार सुशोभित होता है।

२ काय शुद्धि—जैसे तुरन्त के पैदा हुए बालक के शरीर पर न कोई वस्त्र होता है, न कोई आभूषण होता है, न उसके केशो मे किसी प्रकार शोभा ही होती है, और न उसके अग मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, वैसे शरीर पर वस्त्राभूषण का न होना तथा शरीर आदि की शोभा से दूर रहना काय शुद्धि है। इस शुद्धि से लोगो को साधक की निर्विकारता का ज्ञान होता है।

३ विनय शुद्धि—अर्हन्तादि परम गुरुओ मे, उनकी पूजा वगैरह मे विधि पूर्वक भक्ति होना, सदा गुरु के अनुकूल आचरण करना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना आदि मे, समय विचार करने मे कुशल होना, देश, काल तथा भाव को समझने मे चतुर होना और आचार्य की आज्ञा मे प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि है।

४ ईर्यापथ शुद्धि—अनेक प्रकार के जीवो के उत्पत्ति-स्थानो का ज्ञान होने से जन्तुओ को किसी प्रकार की पीडा न देते हुए, सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित मार्ग को अपनी आखो से देखकर गमन करना। न अति शीघ्र गमन करना, न अति विलम्बपूर्वक चलना, इधर-उधर देखकर चलना। इस तरह गमन करने को ईर्यापथ शुद्धि कहते है। जैसे न्याय मार्ग से चलने पर ऐश्वर्य स्थायी रहता है वैसे ही ईर्यापथ शुद्धि से सयम की रक्षा होती है।

५ भिक्षा शुद्धि—भिक्षा के लिये जाने से पहले अपने शरीर की प्रतिलेखना करके, आचाराग मे कहे हुई काल, देश, स्वभाव का विचार करे, तथा भोजन के न मिलने पर खेद खिन्न न हो, मिलने पर प्रसन्न न हो, दोनो मे समता रखे। अर्थात् दोष रहित शुद्ध भोजन करना भिक्षा-शुद्धि है।

भिक्षा के पाच भेद है—

गोचारवृत्ति-अक्षम्रक्षणा उदराग्निप्रशमन, भ्रमराहार, और गर्त पूर्ण—जैसे घास खाने वाली गाय घास की ओर ही दृष्टि रखती है, घास डालने वाला कैसा है यह नही देखती। उसी प्रकार साधु-मुनि शुद्ध निर्दोष आहार लेते है। देने वाला श्रीमान् या गरीब है उस ओर ध्यान नही देते। यही गोचार वृत्ति-गोचरी वृत्ति है।

अक्षम्रक्षण—जैसे व्यापारी माल से भरी हुई गाडी को जिस किसी भी तेल मे ओधकर अपने इच्छित स्थान को ले जाता है वैसे ही साधु भी गुणरूपी रत्नो से भरी हुई इस शरीर रूपी गाडी को निर्दोष भिक्षारूपी तेल से ओधकर समाधिरूप नगर तक ले जाता है। इसे अक्षम्रक्षण वृत्ति कहते है।

उदराग्नि प्रशमन-जिस प्रकार गृहस्थ अपने भण्डार मे आग लगने पर उसे अच्छे बुरे पानी से बुझाता है उसी प्रकार मुनि भी उदराग्नि (भूख की ज्वाला) को सरस अथवा नीरस जैसा भी आहार मिल जाता है उसी से शान्त करता है, इसे उदराग्नि प्रशमन कहते है।

भ्रामरी वृत्ति—जैसे भौरा पुष्प को हानि न पहुचा कर उससे

मधु ग्रहण करता है वैसे ही मुनि भी दाता जनों को कुछ भी कष्ट न पहुँचाकर आहार गृहण करते है। इसलिये इसे भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति कहते है।

गर्तपूर्ण—जैसे गड्ढे को जिस किसी भी तरह भरा जाता है, वैसे ही मुनि पेट रूपी गड्ढे को स्वादिष्ट अथवा नीरस आहार से पूरा करते हैं। इसको श्वभ्रपूरण भी कहते है। ये पांच भिक्षाचर्या के भेद है— भिक्षा शुद्धि के लिये इन भेदों का ज्ञान भी आवश्यक है।

प्रतिष्ठापन शुद्धि—जीव जन्तु रहित भूमि में मल मूत्र आदि के त्याग को प्रतिष्ठाप शुद्धि कहते हैं।

शयनासन शुद्धि–शयनासन शुद्धि में तत्पर साधक को ऐसे स्थान में रहना चाहिये जहा उसके संयम की विराधना न होकर विशेष रूप से आराधना हो। चित्त को चंचल करने वाले स्थानों से सदा ही दूर रहना शयनासयन शुद्धि है।

वाक् शुद्धि—जिन वचनों में किसी जीव की विराधना हो, घात हो अथवा दुःख पहुंचे ऐसे वचनों के त्याग को वाक् शुद्धि कहते है। वाक् शुद्धि वाले साधक को चार प्रकार की विकथाओं को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। वाणी ही कलह उत्पन्न कराती है और वही प्रेम उत्पन्न कराती है। संसार की झंझटों से बचना हो तो मानव मधुर प्रिय और परिमित वाणी का प्रयोग करना सीखे।

ये आठ शुद्धियाँ मानव के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

स्पर्शादि पर्याप्त जीवों के कितने-कितने प्राण होते हैं?

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक पर्याप्त एकेन्द्रियजीवों के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु कर्म, ये ४ प्राण होते हैं।

लट, शंख कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीवों के स्पर्शन रसन इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, आयु [illegible] प्राण होते है।

कुथु, जूं, खटमल, चीटी इत्यादि तीन इन्द्रिय पर्याप्त जीवो के स्पर्शन, रसना तथा घ्राण ये तीन इन्द्रिया कायवल, वचनवल, आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार सात प्राण होते है।

डास, मच्छर, मक्खी, भ्रमर आदि चौ इन्द्रिय पर्याप्त जीवो के चार इन्द्रिया—स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु, कायवल, वचनवल, आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार आठ प्राण होते है।

असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यचो के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कान, कायवल, वचनवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये नौ प्राण होते है। सञ्ज्ञो पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कान, मनवल, वचनवल, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण होते है।

पाच इन्द्रिया और मनोवल प्राण वीर्यान्तराय और मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते है।

शरीर नामकर्म का उदय होने पर कायवल प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण होते है। शरीर नामकर्म और स्वर नामकर्म का उदय होने पर वचनवल प्राण होता है और आयु कर्म का उदय होने पर आयु प्राण होता है। इस प्रकार इन प्राणो की उत्पत्ति समझनी चाहिये। कर्मोदय से प्राण होते है।

मानव प्राणी मोक्ष प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार अनुष्ठान (क्रियाये) करता है। परन्तु जव उन अनुष्ठानो से मोक्षप्राप्ति नही होती तो समझना चाहिए कि ये अनुष्ठान किसी दूसरे प्रयोजन के लिए किये जा रहे है। इसलिए अनुष्ठानो का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है—

मुख्यतया पाच अनुष्ठान माने है—

विषानुष्ठान, गरलानुष्ठान, अन्यान्यानुष्ठान, तद्हेतु अनुष्ठान, अमृत अनुष्ठान।

इस लोक के सुख के लिए जो धार्मिक क्रिया की जाती है उसे अनुष्ठान कहते है। जैसे कि कोई धर्म की क्रिया करके मान, पूजा अथवा धनादि की इच्छा करता है उसका अनुष्ठान विष अनुष्ठान

है। क्योकि इस प्रकार की क्रिया आत्म-साधना मे साधक न होकर बाधक बनती है।

गरल अनुष्ठान—स्वर्गादि सुख तथा भविष्य मे भोगो की इच्छा या कामना पूर्वक जो तपादि अनुष्ठान किये जाते है उन्हे गरल अनुष्ठान कहते है।

जैसे कि इस साधना से मुझे इन्द्र-पद या चक्रवर्ती पद मिले। इस प्रकार की अभिलाषा युक्त जो साधन किया जाता है, वह गरल अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान में भी सासारिक सुख की इच्छा रहा करती है। अन्तर इतना है कि विष क्रिया मे इसी भव मे जीव उसका फल प्राप्त करना चाहता है और गरल क्रिया मे भविष्य अर्थात् मरण पश्चात् सुख आदि चाहता है।

अन्योन्यानुष्ठान—उपयोग शून्य क्रिया का नाम अन्योन्यानुष्ठान है।

प्राणी साधन जरूर करता है। परन्तु साध्य के प्रति विशेष भाव नही रहता। भाव शून्य क्रिया यथार्थ फल नही दे सकती। क्रिया के साथ-साथ अतरग भाव की आवश्यकता है।

तद्हेतुक अनुष्ठान—ध्येय को लक्ष्य मे रखकर उसी की पुष्टि के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है उसे तद्हेतुक अनुष्ठान कहते है — इस अनुष्ठान द्वारा धीरे-धीरे साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

अमृत अनुष्ठान—जो क्रिया अत्यन्त भाव पूर्वक, कि जिसका फल अल्प समय प्राप्त होने योग्य हो, उस क्रिया को अमृत अनुष्ठान क्रिया कहते है।

इस क्रिया से आत्मा को शाति मिलती है तथा साध्य की सिद्धि भी सहज मे हो जाती है।

श्रावक के तीन भेद है—

पाक्षिक श्रावक, नैष्ठिक श्रावक तथा साधक श्रावक।

जो देवी-देवता, मन्त्रसिद्धि, औषधि और आहारादिक के लिये कभी सकल्प-पूर्वक त्रस (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पाच प) जीवों की हिसा नही करता, स्थूल असत्यवचन और चोरी

आदिक पापो से विरक्त सा रहता है तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और प्रमोद आदि सद् भावनाओ द्वारा अपने हृदय की शुद्धि करता रहता है, उसे पाक्षिक श्रावक कहते है।

आत्म परिणामो मे वैराग्य की विशेषता होने पर कृषि आदि कार्यो से उत्पन्न हिंसादि पापो को प्रायश्चित के द्वारा दूर करके स्त्री, पुत्र, माता आदि पोष्य वर्ग को, धन को तथा चैत्यालय वगैरह धर्म को अपने भार के चलाने मे समर्थ योग्य पुत्र या किसी अन्य योग्य कुटुम्बी को अपने घर का भार सोप देने का चर्या कहते है।

चर्या मे लगे हुए दोषो को प्रायश्चित से दूर करके गृह त्याग के अतिम समय मे अथवा मरण समय मे चतुर्विध आहार, योग की चेष्टा तथा शरीर मे ममत्व के त्याग मे उत्पन्न होने वाले निर्मल ध्यान के द्वारा आत्मा से रागादि मल को दूर करने वाले को साधक श्रावक कहते है।

जिसको अहिंसादि शुभ कार्यो का पक्ष है उसे पाक्षिक श्रावक, वारह व्रतो को धारण करने वाले को चर्या श्रावक और अत मे समाधि मरणपूर्वक देह त्याग करने वाले को साधक श्रावक कहते हे।

## श्रावक के आठ मूल गुण—

श्री सोमदेव सूरि ने तीन मकार (मद्य, मास, मधु-शहद और पाच उदम्वर—पीपल फल, ऊमर फल, पाकर फल, वड ओर कठूमर फल गीले तथा सूखे फलो के त्याग के आठ मूलगुण माना है।

स्वामी श्री समतभद्राचार्य ने तीन मकार और पाच के पापो अंश त्याग को आठ मूल गुण माना है। (पाच पाप—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म परिग्रह, ।

श्री जिनसेनाचार्य ने मद्य-शराव, मास, जुआ तथा पाच पापो के परित्याग को आठ मूल गुण वतलाया है। वृक्ष के काठ को फोड़-कर उसके दूध से उत्पन्न होने वाले फलो को क्षीर फल कहते है। उनमे वट, पीपल आदि पाच उदुम्वर फल प्रसिद्ध है। क्षीरफलो के

अन्दर सूक्ष्म तथा स्थूल जीव ठसाठस भरे रहते हैं। उनको फोड़कर देखने पर उड़ते हुए प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। इन फलों को खाने वाले उनके अंदर रहने वाले जीवों का भक्षण कर जाते हैं।

आजकल बहुत से मनुष्य गाय आदिक के दूध को अशुद्ध कहने लगे हैं और वे इस विषय में यह युक्ति देते हैं कि मांस के समान दुग्ध भी गाय का ही अंग है। परन्तु वे जरा विवेक से विचार करें तो जान पड़ेगा कि मांस और दूध में बड़ा ही अन्तर है। बच्चा अपनी मां का दूध पीता है उसे कोई मांस भक्षण नहीं कहता। मांस जीव की हिंसा बिना नहीं मिल सकता तथा कोई भी मरने के लिये तैयार नहीं है। प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन प्रिय है। दूध दुहने से गायादि पशुओं को दुःख नहीं होता। उनके आंचल से दूध न निकाला जाय तो वे पशु अधिक दुःखी होते हैं। सागार धर्मामृत में इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा स्पष्टीकरण है। उसका यहां लिख देना अनुचित न होगा —

शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तु वैचित्र्यमीदृशम्।
विषघ्नं रत्नमाहेयं, विषं च विपदे यतः॥
हेयं पलं पयः पेयं, समे सत्यपि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्रं, मूलं तु मृतये मतम्।

भावार्थ—गाय का दूध तो शुद्ध है, मांस शुद्ध नहीं है। जैसे—सर्प का रत्न तो विष का नाशक होता है किन्तु विष प्राणों का घातक है। यद्यपि मांस और दूध दोनों की उत्पत्ति गाय से है तथापि ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार दूध ग्राह्य और मांस त्याज्य है। एक यह भी दृष्टान्त है कि विष वृक्ष का पत्ता जीवन दाता और जड़ मृत्युदायक होती है। [illegible] से [illegible] नहीं [illegible]।

आगे [illegible] रात्रि भोजन त्याग, और अनछने पदार्थों का त्याग भी आवश्यक है। [illegible] की रक्षा होती है। [illegible] आवश्यक किया है। [illegible] उन पदार्थों का आहार [illegible] कर दिया है

किसी-किसी आचार्य ने इस प्रकार से मूलगुण माने है—मद्यत्याग, मास त्याग, मधु-शहद का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पचोदम्बर फलो का त्याग, देववन्दना, जीव दया और जलगालन अर्थात् छानकर पानी पीना।

## भोजन की अपेक्षा मनुष्य के भेद

उत्तम मनुष्य दिन मे एक वार ही भोजन करते है, मध्यम मनुष्य दिन में दो वार और जघन्य मनुष्य पशुओ की तरह रात दिन खाते रहते है।

जिस समय भरतक्षेत्र मे उत्तम भोगभूमि की रचना थी उस समय यहा के मनुष्य तीन दिन वाद वेर के समान आहार लेते थे। जब मध्यम भोग भूमि की रचना थी तव मनुष्य दो दिन वाद आवले के वरावर आहार लेते थे। जघन्य भूमि के समय मनुष्य एक दिन वाद वहेडे के वरावर भोजन करते थे।

चतुर्थ काल के प्रारभ में मनुष्य प्रतिदिन एक वार आहार करने वाले होते है और उसके अन्त मे दिन मे दो वार भोजन करने लगते है। इस समय के मनुष्यो के आहार का परिमाण ३२ ग्रास का होता है। एक हजार चावल का एक ग्रास होता है।

पचम काल के मनुष्यो में आहार का कुछ नियम नही रहता। जिस प्रकार पशुओ को रात-दिन जब भी घास डालो खाने लगते है, उसी प्रकार पंचमकाल मे मनुष्य रात-दिन खाते पीते रहते है। ऐसे मनुष्यो को जघन्य कोटि का मनुष्य कहा जाता है। पण्डितप्रवर श्री आशाधर जी ने अपने सागार धर्मामृत मे ऐसे मनुष्यो को चतुष्पद पशु की उपमा दी है।

## पांच प्रकार के ब्रह्मचारियों के लक्षण

उपनय ब्रह्मचारी—जो यज्ञोपवीत धारण कर समस्त आगमो का अध्ययन करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते है उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते है।

अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो क्षुल्लक भेष में रहकर आगम का अभ्यास करके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते है वे अवलम्ब ब्रह्मचारी है।

अदीक्षा ब्रह्मचारी—जो बिना किसी भेष के समस्त आगम का अध्ययन करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

गूढ ब्रह्मचारी—जो कुमार मुनिवेश में रहकर दुःसह परिषह विद्याभ्यास करते हैं और बन्धुजन की प्रेरणा या राजादि के आदेश के कारण मुनिवेश छोड़कर गृहस्थ-धर्म अंगीकार करते हैं वे गूढ ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—चोटी रखने वाले, भिक्षा से आजीविका करने वाले और देवपूजा में तत्पर रहने वाले व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

ब्रह्मचारी के इन भेदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में विद्यार्थी गुरु के पास जाकर अमुक-अमुक नियमों का पालन कर विनय पूर्वक विद्याभ्यास करते थे। विद्याध्ययन पूर्ण होने पर जिसकी जैसी इच्छा होती थी गुरु की आज्ञा लेकर वैसा करते थे। जो विद्यार्थी गृहस्थ या मुनि बनना चाहता था वह इस विषय में स्वतन्त्र था। संयम पूर्वक किया विद्याभ्यास आत्मोन्नति का मुख्य कारण है। उन विद्यार्थियों में विनय विवेक निष्ठा आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता था। वे स्वच्छन्दता तथा उद्दण्डता से बहुत ही दूर रहा करते थे। गुरु निन्दा को पाप समझते थे। सत्य अहिंसा आदि सद्गुण उनके जीवन को सुगन्धित बनाते थे। पूर्व के विद्यार्थी गुरु आज्ञा को मुख्य समझ कर शिरोधार्य करते थे। कठिन से कठिन आज्ञा के पालन में वे विमुख नहीं होते थे।

चार आश्रम और उनके लक्षण

ब्रह्मचारी—जो चोटी रखता है, सफेद वस्त्र पहिनता है, लंगोटी लगाता है, जिसका वेष निर्विकार होता है तथा व्रत के चिन्ह रूप सूत्र का धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

गृहस्थ—जो नित्य और नैमित्तिक क्रियायें करता रहता है उसे गृहस्थ कहते हैं।

वानप्रस्थ—जिसने जिनरूप को धारण नहीं किया है, जो खण्ड-वस्त्र (चादर) धारण करता है तथा सदा निरतिशय चर्या मे तत्पर रहता है उसे वानप्रस्थ कहते है।

भिक्षु—जो ससार से विरक्त होकर जिनमुद्रा को धारण करता है उसे भिक्षु कहते है।

### मौन के स्थान

देव पूजा, गुरुपूजा, स्वाध्याय, सयम, तप, दान, मल-मूत्र क्षेपण, वमन, मैथुन, आत्मघात, स्नान और भोजन करते समय मौन रखना आवश्यक है। अर्थात् ये १२ मौन के स्थान है।

### गृहस्थ के षट् कर्म

इज्या, वार्ता, दान, स्वाध्याय, सयम और तप ये गृहस्थ के षट् (छ) कर्म हे—अर्थात् श्रावक इन कार्यो को अपनी शक्ति अनुसार अवश्य करता है। इन शुभ कार्यो से उसके दोनो भव सुधरते है।

इज्या—इसका अर्थ अर्हन्त भगवान की पूजा है। उसके पाच भेद है—नित्य पूजा, चतुर्मुख पूजा, कल्पवृक्ष पूजा, अष्टान्हिक पूजा और इन्द्रध्वज पूजा।

प्रतिदिन शक्ति के अनुसार अपने घर से अष्ट द्रव्य ले जाकर जिनमन्दिर मे जिन-भगवान् की पूजा करना, चैत्य और चैत्यालय बनवा कर उनकी पूजा के लिये व्यय का साधन जुटा देना तथा मुनि और जिनवाणी की पूजा करना नित्य पूजा है।

चतुर्मुखपूजा—मुकुट बद्ध राजाओ के द्वारा जो जिन भगवान की पूजा की जाती है, उसे चतुर्मुख पूजा कहते है।

यह चतुर्मुख पूजा चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान करके चारो ही दिशा मे की जाती है। बडी होने से इसे महापूजा भी कहते है। सर्व जीवो का कल्याण करने वाली होने से सर्वतोभद्र कहते है।

कल्पवृक्ष पूजा—याचको को उनकी इच्छानुसार दान देने के पश्चात् चक्रवर्ती श्री अरहन्त भगवान की जो अर्चा करता है उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते है।

अष्टान्हिपूजा—अष्टान्हिक पर्व मे अरहन्त भगवान् की जो पूजा की जाती है, वह अष्टान्हिक पूजा है।

इन्द्रध्वज पूजा—इन्द्रादिकों के द्वारा जो जिन-पूजा की जाती है वह इन्द्रध्वज पूजा है।

गुरुभक्ति—संसार के विषयों से उदासीन, आरम्भ परिग्रह रहित तथा ज्ञान ध्यान तप में तल्लीन रहने वाले गुरुओं (साधुओं) की भक्ति गुरुभक्ति है।

दयादान, पात्रदान, समदान और सकलदान।

दया योग्य प्राणियों पर दया करके दान देना दयादान है।

महा तपस्वी मुनियों को नवधाभक्ति पूर्वक शुद्ध आहार देना, शास्त्र तथा पीछी कमण्डलु देना पात्रदान है।

गृहस्थों में सर्वश्रेष्ठ साधर्मी भाई को उनके योग्य सामग्री या धनादि देना समदान है।

अपने पुत्र अथवा दत्तक को घर का सब भार सौंपकर गृहस्थी के भार के त्याग को सकलदान कहते हैं। इसका दूसरा नाम अन्वय दान भी है।

स्वाध्याय-तत्त्वज्ञान के अध्ययन-अध्यापन को स्वाध्याय कहते हैं।

संयम—अणुव्रतों के पालन को संयम कहते हैं।

तप—संसार सम्बन्धी इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं और यह तप ६ बाह्य और ६ अन्तरंग के भेद से बारह प्रकार का है।

इन षट्कर्मों के आचरण से गृहस्थ के अन्तरंग परिणाम विशुद्ध होते जाते हैं।

## किन-किन समुद्रों में जलचर होते हैं?

मध्य लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं—उनमें से दो लाख योजन विस्तार वाले लवण समुद्र में, और आठ लाख योजन विस्तार वाले कालोदधि समुद्र में दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जलचर जीव होते हैं। [illegible] अन्त के स्वयम्भूरमण समुद्र में भी दो इन्द्रिय आदि जलचर—(पानी में रहने वाले) जीव होते हैं। किन्तु बाकी के अन्य समुद्रों में जलचर

जीव नियम से नही होते। जिन समुद्रो के जल के स्वाद मे भिन्नता है, उसे कहते है—

लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक की तरह खारा है। वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद शराब जेसा है। घृतवर समुद्र के जल का स्वाद घी के समान है। क्षीरवर समुद्र के जल का स्वाद दूध के समान हे। कालोदधि, पुष्करवर और स्वयभूरमण समुद्रो के जल का स्वभाव जल के जैसा हे, शेप सब समुद्रो के जल का स्वाद इक्षु रस जैसा मधुर है।

**देवो के भेद और उनके निवास स्थान कहां है ?**

देवो के चार भेद है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

खरभाग और पक भाग मे भवनवासी देवो के भवन है और व्यन्तरो के निवास है। इन दोनो के तिर्यग्लोक मे भी निवास है।

रत्न प्रभा नाम की पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके प्रथम भाग को खर भाग कहते है जो सोलह हजार योजन मोटा है। उस खर भाग मे असुर कुमारो को छोडकर बाकी के नागकुमार आदि ९ भवनवासी देवो के भवन है। तथा राक्षसो को छोडकर किन्नर, किंपुरुष आदि सात प्रकार के व्यन्तरो के आवास है। चौरासी हजार योजन मोटे द्वितीय पक भाग मे असुर कुमारो के भवन और राक्षसो के आवास है। इसके सिवाय भवनवासी और व्यन्तरो के वास—स्थान तिर्यग्लोक मे भी है। "व्यन्तरा निरन्तरा" अत सभी द्वीप-समूहो मे उनका आवास है। जो भवनो मे निवास करते है उन्हे भवनवासी और विविध देशो मे रहने वाले देवो को व्यन्तर देव कहते हे। रत्न प्रभा का तीसरा भाग अब्बहुल है, उसमे प्रथम नरक के नारकी रहते हे।

ज्योतिषी देवो के विमान एक राजु प्रमाण तिर्यग्लोक मे हे। कल्पवासी देव उर्ध्वलोक-स्वर्ग मे निवास करते है और नारकी अधोलोक मे रहते हे। बहुत से मनुष्यो का कहना है कि व्यन्तर जाति

के भूत पिशाचादि शून्यगृह, वन, उपवन अथवा किसी वृक्ष पर रहते हैं। व्यन्तरों के ये स्थान कृत्रिम तथा ममतावश हैं। मूल स्थान ऊपर कहे हुये ही हैं। देवों का मांस भक्षक कहना, उनका अवर्णवाद (व्यर्थ दोषारोपण) है। वे मानसिक आहार वाले होते हैं तथा उनकी शरीराकृति भी सुन्दर और सुडौल होती है।

## देवों में विषय सेवन किस प्रकार से है ?

ऐशान नामक स्वर्ग तक काय द्वारा मैथुन करने वाले देव हैं। अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क इन तीनों निकायों में और सौधर्म, ईशान स्वर्ग सम्बन्धी देवों में मनुष्यों की तरह काया द्वारा देव देवियों का मैथुन व्यवहार है। परन्तु उस प्रकार के प्रवीचार से देवियों के सन्तानोत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उनका शरीर धातु उपधातुओं से रहित है।

ईशान स्वर्ग से ऊपर के देवियों के देव स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन में विचार करने से काम सेवन करते हैं। अर्थात् तीसरे और चौथे स्वर्गों के देव, देवाङ्गनाओं के स्पर्श पांचवे, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग के देव, देवियों के रूप देखने से, नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के मधुर शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव मन में देवाङ्गनाओं के मन के विचार मात्र से तृप्त हो जाते हैं—उनकी कामेच्छा शान्त हो जाती है।

सोलहवें स्वर्ग तक काम सेवन है। आगे के विमानों में रहने वाले देवों में काम-सेवन नहीं है। वे स्वभाव से ही मन्द रागी होते हैं।

देवों का विषय भोगादि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों में मनुष्य के समान काम भोग है। इसके बाद सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों के निवास करने वाले देव स्पर्श करने से ही मैथुन सुख प्राप्त करने वाले होते हैं। इन देवों के मैथुन सुख के प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होते ही उसी समय निज देवियां

का राग पूर्वक स्पर्श करने से या आलिङ्गन करने से उनकी कामेच्छा पूर्ण हो जाती है।

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गों मे रहने वाले देव रूप मे प्रवीचार करने वाले है – अर्थात् वे देव अपनी-अपनी देवियो का अनुपम, सुन्दर रूप देखकर काम-वासना से निवृत्त हो जाते है।

शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार स्वर्ग निवासी देवो के शब्द मे ही प्रवीचार होता है। अपनी-अपनी रमणीय ललनाओ के मनोज्ञ, मधुर शब्द सुनने मात्र से उन देवो की कामतृप्ति हो जाती है।

आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन स्वर्गों मे देव मन मे ही प्रवीचार करने वाले है। अपनी अगनाओ के मानसिक सकल्प मात्र से ही विषय सुख का अनुभव कर लेते है।

सोलह स्वर्गो के ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और ५ अनुत्तर विमानो मे रहने वाले अहमिन्द्र देव मैथुनप्रवृत्ति से सर्वथा रहित है। मैथुन रहित वे देव निरन्तर परम हर्ष का अनुभव करते रहते है क्योकि वहा पर काम की कोई पीडा नही है। इसलिये उसके उपाय की भी कोई आवश्यकता नही रहती। काम एक प्रकार का रोग है, जहा रोग शान्त है वहाँ उसके शान्त करने के लिये कोई उपाय नही करना पडता। कल्पातीत देवो को काम-वेदना के प्रतीकार की झझटो मे नही पडने के कारण सतत परम आनन्द रहता है।

## इन्द्रियो के अट्ठाईस विषय

पाच रस—मीठा, खट्टा, कषायला, कड़आ, चरपरा।

पांच वर्ण रंग—सफेद, पीला, हरा, लाल और काला।

दो गन्ध—सुगध और दुर्गन्ध।

आठ स्पर्श—कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, रूखा और चिकना।

सात स्वर—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद।

एक मन का विषय।

इस तरह पांच इन्द्रिय और एक मन इन सब के अट्ठाईस विषय हैं। यों तो विषयों के अनेक भेद हो सकते हैं परन्तु इन अट्ठाईस विषयों में ही सब विषयों का समावेश हो जाता है।

पांच प्रकार के रस जिह्वा इन्द्रिय के विषय हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के भी विषय समझ लेना चाहिये।

पुद्गल द्रव्य के छह भेद

(१) पुद्गल द्रव्य सूक्ष्म सूक्ष्म (२) सूक्ष्म (३) सूक्ष्म स्थूल (४) स्थूल सूक्ष्म (५) स्थूल (६) स्थूल स्थूल इस तरह पुद्गलद्रव्य छह प्रकार का कहा गया है।

उनमें से परमाणु सूक्ष्म से सूक्ष्म है। कार्माण (कर्म होने योग्य) वर्गणा सूक्ष्म है। स्पर्श, रस, गंध, शब्द ये सूक्ष्म स्थूल हैं क्यों कि नेत्र इन्द्रिय से नहीं देखे जाते, इसलिये सूक्ष्म है तथा चार इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं इस से स्थूल भी हैं।

छाया (परछाई) स्थूल सूक्ष्म है क्योंकि नेत्र से देखने में आती है इस लिये स्थूल है और हाथ से पकड़ने में नहीं आती इस कारण सूक्ष्म भी है।

जल, तेल आदि स्थूल हैं क्योंकि छेदन भेदन करने से फिर उसी समय मिल जाते हैं।

पृथिवी, पर्वत, काष्ठ इत्यादि स्थूल-स्थूल हैं क्योंकि उन की स्थूलता प्रत्यक्ष आंखों से दिखाई देती है।

इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने वाले सभी पदार्थ पुद्गल हैं। क्योंकि पुद्गलों [illegible] माना गया है। परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य यद्यपि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है [illegible] इन्द्रिय ग्रहण योग्य शक्ति अवश्य है। [illegible] स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियों [illegible] द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस कारण व्यक्ति-शक्ति की अपेक्षा ग्रहण किये जाने [illegible] नहीं ग्रहण किये जाते, परन्तु इन्द्रिय ग्रहण योग्य अवश्य हैं। क्योंकि पुद्गल द्रव्य के भेदों में रूप रसादि गुण अवश्य रहते हैं। इसी कारण मूर्तिक कहे गये हैं।

## लौकांतिक देवों के नाम—

(१) सारस्वत (२) आदित्य (३) वह्नि, (४) अरुण (५) गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध और (८) अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देव है। ब्रह्मलोक की ऐशान आदि आठ दिशाओ मे इन देवो का निवास है।

ये सभी लौकान्तिक देव अहमिन्द्रो के समान स्वतन्त्र है। किसी इन्द्र प्रतीन्द्र का इन पर किसी प्रकार का अधिकार नही है। परस्पर मे भी हीनता वा अधिकता न होने से कोई किसी के आधीन नही है। इद्रिय सम्बधी विषयो मे लोलुपता की मदता के कारण देवो मे ऋषि समान होने से इन्हे देवर्षि कहते है और इसी से देवो द्वारा पूजनीय है। द्वादशाग के ये ज्ञाता होते है। सदा ज्ञान-ध्यान मे तत्पर, ससार के स्वरूप का विचार करते रहते है। तीर्थंकर भगवान् तप कल्याणक के अवसर पर नियोग साधते हुए भगवान को तत्त्वप्रबोध कराने के लिये मध्य लोक मे आते है। निष्क्रमण-दीक्षा कल्याणक के सिवाय अन्यत्र विहार आदि कार्यों मे आतुरता नही रखते। वहा से च्युत होकर मनुष्य-भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते है। अर्थात् ये देव एकभवावतारी होते है।

## एक भव धारण करके मोक्ष जाने वाले जीव

सर्वार्थसिद्धिविमान के अहमिन्द्र, आठयुगल स्वर्ग के इद्र, सौधर्मेन्द्र, शची इन्द्राणी, सौधर्म के चार लोक पाल—सोम, यम, वरुण, कुबेर और पाचवे स्वर्ग के अन्त मे रहने वाले सारस्वत आदि लौकान्तिक देव एक भव धारण करके सिद्ध पद को प्राप्त करते है। लेखक का उन्हे पुन पुन. भाव पूर्वक अन्त करण से नमस्कार हो।

## दीक्षा के समय तीर्थंकर की पालकी उठाने का नियम

जिस समय भगवान् तीर्थंकर दीक्षा के लिये वन मे प्रस्थान करते है उस समय सबसे प्रथम राजा ही उनकी पालकी उठाते है, इसके बाद सात पैंड चलकर वे देवो को सौंप देते है। इस दीक्षा महोत्सव मे सभी देव यथाशक्ति अपना-अपना सहयोग देते है।

श्रीपाल राजा का कुष्ठ रोग अभिषेक के जल के सींचने से मूल से नष्ट हो गया था। भगवान् जिनेन्द्र का अभिषेक जीव के हित के लिये ही है।

(२) आह्वानन—गृहस्थी रागी-द्वेषी होता है। इसलिये अपने अशुभ परिणामों के परिवर्तन के लिये पूजा के प्रारम्भ में जिस देव की पूजा की जाती है उसको भक्ति से बुलाने के लिये नीचे का मन्त्र बोलता है। "अत्र" (यहाँ मेरे हृदय में) "अवतर" (आइये) "सवौषट्" (पधारिये) कहकर एक अखण्ड पुष्प ठौणे पर चढाता है।

(३) **स्थापना**—आह्वानन के पश्चात् "अत्र" यहाँ "तिष्ठ" (ठहरिये) ठ ठ (विराजमान हूजिये) ऐसा कहकर पुनः एक अखण्ड पुष्प ठौणे पर चढाता है।

(४) **सन्निधिकरण**—"अत्र" (यहा) 'मम' (मेरे) "सन्निहितो" (निकट) "भव भव" हो जाइये। वषट् (एकम एक) यो बोलकर एक और अखड पुष्प ठौणे मे पूजक चढाता है।

(५) **अष्ट द्रव्य पूजा**—भगवान की पूजा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है।

समस्त साँसारिक सकल्प—विकल्पो का त्याग कर भगवान् वीतराग के गुणो मे तल्लीन होना भाव पूजा है।

जल, चन्दन अक्षत आदि अष्ट द्रव्यो से भगवान् की पूजा करना द्रव्य पूजा है। यह पूजा भाव पूजा के लिये ही है। अर्थात द्रव्य के चढाने से भावो म विशुद्धि आती है, जिससे अशुभ-कर्म का वन्ध रुक जाता है। एक मेढक भी मरकर द्रव्य-पूजा के प्रभाव से स्वर्ग मे देव हुआ। मेढक की कथा शास्त्रो मे प्रसिद्ध है।

(६) **जयमाल** अष्ट द्रव्य से पूजा करने के पश्चात् जयमाला पढी जाती है। इसमे पूज्य के गुणो की प्रशसा की जाती है।

(७) **जाप** "समरभ" (किसी कार्य की तैयारी का विचार) "समारभ" (कार्य करने की सामग्री जुटाना), "आरभ" कार्य (शुरू करना) "कृत" (करना) "कारित" (कराना) "अनुमोदन" (प्रशसा करना) ये तीन = ३ × ३ = ९। नौ का मन, वचन और काया से गुणा करने पर २७ होते है। इस २७ को क्रोध, मान, माया और लोभ

गुणा करने १०८ भेद होते है। इन १०८ मार्गों से पाप का आश्रव (आना) होता रहता है। इनको रोकने के लिये अन्तिम पूजा की जयमाल के पश्चात् १०८ बार 'णमोकार' मन्त्र की जाप देनी चाहिये। पूजन खड़े होकर बड़े विनय के साथ करनी चाहिये। किसी-किसी जगह बैठ कर भी पूजा करते है परन्तु मुख्यता खड़े रहने की है। खड़े रहने से विनय भाव प्रगट होता है।

(८) शान्तिपाठ—जाप के पश्चात् शान्ति की प्राप्ति के लिये शान्ति पाठ पढ़ा जाता है।

(९) विसर्जन——जिन देवों का पूजन के प्रारम्भ मे आह्वानन किया था उनको आदर भाव से ही विदा करने के लिये विसर्जन पढ़ते हुए अक्षत पुष्प ३ बार ठोंणे पर चढ़ाकर पहली आह्वानन की प्रतिज्ञा को समाप्त किया जाता है।

मन्दिर जी मे शास्त्र स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। यदि वहां कोई अच्छा उपदेश होता हो उसे सुनने के लिये श्रावक को अवश्य बैठना चाहिये। क्योंकि सुनने से ही हित-अहित की पहचान अर्थात् ज्ञान होता है।

इति प्रथमोऽध्याय ॥

'जीवोद्धार' के लेखक
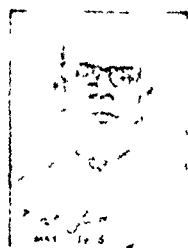
# मन की तरंग

उन जिनेन्द्रवर महावीर को नमन करू मै।
दिव्य ध्वनि अनुसार जीव उद्धार लिखू मैं ॥ १ ॥

×

सर्वोत्तम यह ग्रथ है, करे आतम उपकार।
पुनः पुनः अध्ययन से होय जीव उद्धार ॥ २ ॥

×

इसी प्रकार से भव्य जीव ही, पठन करेगा जीवोद्धार।
कभी न रुचिकर उस मानव को जिसका होय दीर्घ ससार ॥ ३ ॥

×

## जीवोद्धार ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता

निष्कलक है क्योकि नही है, इसमे निन्दा और प्रशसा।
विकथाओ से रहित ग्रथ यह जीवोद्धारक गुण अवतशा ॥

आपका शुभचितक
पन्नालाल जैन आर्चीटेक्ट
न्यूदेहली (३१०००५)

# जीव उद्धार-ग्रंथ

# उत्तरार्द्ध

द्वितीय अध्याय आरंभ

JAIN SAHITYA PRAKASHAN

भारतीय जिनवाणी केन्द्र

2

दो रुपया

V. No. 2500

SAMPLE

15 JANY 1974
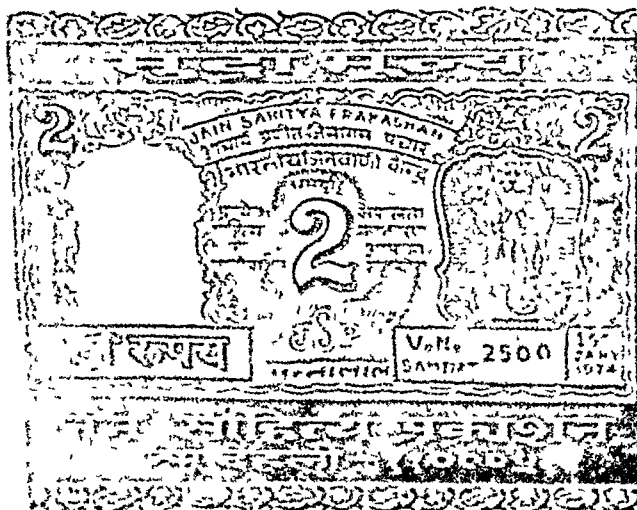
# गति आगति सम्बन्धी वर्णन—

नारकी जीव मरण करके नरक और देवगति में नही उपजते, परन्तु मनुष्य या तिर्यंच गति मे ही उत्पन्न होते है और इसी प्रकार मनुष्य तिर्यंच ही मर कर नरक गति मे उत्पन्न होते है। देव गति से च्युत होकर कोई जीव नरक मे नही उत्पन्न होता।

असज्ञी पचेन्द्रिय (मन रहित) जीव मरकर पहले नरक तक ही जाते है, आगे नही। सरासृप-छाती के बल से चलने वाले जीव दूसरी पृथिवी तक उत्पन्न होते हैं, पक्षी तीसरे नरक मे, सर्प चौथे नरक मे, सिह पाचवे नरक मे, स्त्री का जीव छठे नरक मे मरकर उत्पन्न होता है सातवे नरक मे कर्म भूमि के उत्पन्न हुए मनुष्य और तन्दुल-मच्छ ही जा सकते है। और भी विशेष यह है कि यदि कोई जीव निरन्तर नरक मे जाता है तो प्रथम पृथिवी मे क्रम से आठ वार, दूसरी मे सात वार, तीसरी मे छह वार, चौथी मे पाच वार, पाचवी मे चार वार, छठी मे तीन वार और सातवी मे दो वार ही जाता है। सातवी पृथिवी से निकला हुआ जीव फिर भी एक वार उसी या अन्य किसी नरक मे जाता है, यह नियम है।

सातवे नरक से निकल कर जीव मनुष्य गति नही पाता किन्तु तिर्यंच गति मे अव्रती ही उपजता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव सयम (मुनि का चारित्र) धारण नही कर सकता। पाचवे नरक से निकला हुआ जीव उस भव से मोक्ष नही पाता। चौथे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर पद नही पाता। पहले दूसरे तथा तीसरे नरक से निकले हुए जीव तीर्थंकर पद पा सकते है। परन्तु नरक से निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नही होते।

पाप कर्म के उदय से जीव नरक मे उपजता है। वहा अनेक प्रकार के दुःख है। पराधीनता पूर्वक नरक की सभी यातनाये भोगनी पडती है। प्रथम के चार नरको मे तथा पाचवे नरक के कुछ बिलो मे उष्णता की तीव्र वेदना है तथा नीचे के नरको मे शीत की तीव्र

वेदना है। तीसरे नरक तक असुर कुमार जाति के देव आकर नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं।

नरक सात हैं। रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा ये सात नरकों के नाम हैं। ये सभी नरक घनवात पर प्रतिष्ठित हैं, घनवात अम्बुवात के आधार है और अम्बुवात तनुवातवलय के अवलम्ब पर रखा हुआ है। तनुवात आकाश पर टिका हुआ है और यह आकाश अपने स्वरूप से ही आधार, आधेय बना हुआ है। अर्थात् आकाश के लिये किसी अन्य आधार की अपेक्षा नहीं है।

नरक गति अशुभ कर्मों का फल है। वहां अत्यन्त तीव्र वेदना है, तिलमात्र भी सुख नहीं है, भयंकर शीत उष्णता है। नरक के दुःखों का वर्णन वाणी द्वारा अकथ्य है।

नारकी दुःखों से छूटने के लिये सोचते हैं—आयु पूर्ण किये बिना मरना चाहते हैं लेकिन अनपवर्त्य आयु वाले होने से बीच में उनका मरण नहीं होता। सागरोपम जितनी लम्बी आयु भोगकर ही वे वहां से निकल पाते हैं।

रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी के उत्पत्ति स्थानों में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव जन्मकाल में जब नीचे गिरते हैं तब सात योजन (उत्सेध योजन) तथा साढ़े तीन कोस ऊपर आकाश में ([illegible]) उछल कर पुनः नीचे गिरते हैं।

दूसरे नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी और वहां की भूमि के [illegible] पन्द्रह योजन अढाई कोस [illegible] ऊपर उछल कर नीचे गिरते हैं। तीसरे नरक में इकत्तीस योजन एक कोस, चौथे नरक में बासठ योजन दो कोस, पांचवें नरक में सवा सौ योजन, छठे नरक में दो सौ पचास योजन और सातवें नरक में पांच सौ योजन उछलते हैं।

प्रारम्भ के तीन नरकों में नारकियों के उत्पत्ति स्थान [illegible] आकार वाले हैं, [illegible] कोई घट के आकार वाले हैं, [illegible] मृदंग, मुरज और नाड़ी के आकार के हैं।

चौथे और पाचवें नरक मे नारकियो के उत्पत्ति स्थान अनेक तो गौ के आकार है, अनेक हाथी, घोडे आदि प्राणियो तथा धोकनी, नाव और कमल पुट के समान है। अन्तिम दो नरको मे नारकियो के जन्म स्थान कोई खेत के समान, कोई झालर और कटोरो के समान तथा कोई मयूर के आकार के समान है।

वे जन्म स्थान एक कोश, दो कोश, तीन कोश और एक योजन के विस्तार वाले होते है। उनमे जो बडे स्थान है वे सौ योजन तक चौडे होते है। उन समस्त जन्म स्थानो की ऊचाई अपने विस्तार से पाच गुनी कही गई है। उन नारकियो के निरन्तर अत्यन्त अशुभ परिणाम रहते है तथा नपु सक लिंग और हुण्डक सस्थान होता है। अर्थात् नारकियो के शरीर का आकार भद्दा होता है।

जो नारकी आगामी काल मे वहा से निकल कर तीर्थंकर होने वाला है तथा जिसके पाप कर्म का उपशम हो गया है, उस जीव का देव गण भक्तिवश छह माह पहले से उपसर्ग दूर करते है।

प्रथम पृथिवी मे नारकियो की उत्पत्ति का अन्तर अडतालीस घडी है और नीचे की छह भूमियो मे क्रम मे एक सप्ताह, एक पक्ष (१५ दिन), एक मास, दो मास, चार मास और छह मास का विरह अन्तर काल है।

जैसे कि प्रथम नरक मे कोई भी जीव उत्पन्न न हो तो अडतालीस घडी तक न होगा। इसके पश्चात् अवश्य ही उत्पन्न होगा। द्वितीयादि नरको मे ऊपर लिखे हुए समय का अन्तर समझ लेना चाहिये। नारकियो की आयु पहले नरक मे १ सागर दूसरे मे तीन सागर, तीसरे मे सात सागर, चौथे मे दस पाँचवे मे सत्रह सागर, छठे मे बाईस सागर और सातवे नरक मे तेतीस सागर उत्कृष्ट आयु है। पिछले नरक की उत्कृष्ट आयु अगले मे जघन्यायु होती है।

### द्रव्यो मे कुछ समानता

द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाश के प्रदेश —असख्यात प्रदेशी है—यह द्रव्य की अपेक्षा तुल्यता समझनी ।

उत्तर—साधु आहार मे अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास तक ले सकते है, और आर्यिका अट्ठाईस ग्रास ले सकती है। एक ग्रास का प्रमाण एक हजार चावल होता है।

## चौबीस तीर्थंकरो के चिह्न—

(१) आदिनाथ के बैल (२) अजितनाथ के हाथी (३) संभव नाथ के घोड़ा (४) अभिनन्दन के बन्दर (५) सुमतिनाथ के चकवा (६) पद्म प्रभ के कमल (७) सुपार्श्वनाथ के साथिया (८) चन्द्रप्रभ के चन्द्रमा (९) पुष्पदन्त के मगर (१०) शीतलनाथ के कल्पवृक्ष (११) श्रेयासनाथ के गेंडा (१२) वासुपूज्य के भैंसा (१३) विमलनाथ के सूअर (१४) अनन्तनाथ के सेही (१५) धर्मनाथ के वज्रदण्ड (१६) शान्तिनाथ के हिरण (१७) कुन्थुनाथ के बकरा (१८) अरहनाथ के मछली (१९) मल्लिनाथ के कलश (२०) मुनिसुव्रत नाथ के कछुआ (२१) नमिनाथ के कमल (२) नेमिनाथ के शख (२३) पार्श्वनाथ के सर्प (२४) महावीर के सिंह।

इन चिन्हो के द्वारा तीर्थंकरो की प्रतिमाये पहचानी जाती है कि यह कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा है।

## बारह चक्रवर्ती

(१) भरत (२) सगर (३) मघवा (४) सनत्कुमार (५) शान्ति नाथ (६) कुन्थुनाथ (७) अरहनाथ (८) सुभौम (९) पद्मचक्री (१०) हरिषेण (११) जय (१२) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

## नव नारायण

(१) त्रिपृष्ट (२) द्विपृष्ट (३) स्वयम् (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुष सिंह (६) पुण्डरीक (७) दत्त (८ लक्ष्मण (९) श्री कृष्ण।

## नव प्रतिनारायण

(१) अश्वग्रीव (२) तारक (३) मेरक (४) मधु (५) निशुंभ (६) बली (७) प्रह्लाद (८) रावण (९) जरासंघ॥

## नव बलभद्र

(१) अचल (२) विजय (३) सुभद्र (४) प्रभ (५) सुदर्शन (६)

विशाल कीर्ति (११) वज्रधर (१२) चन्द्रानन (१३) चन्द्रबाहु (१४) भुजंगम (१५) ईश्वर (१६) नेमप्रभ (नमि) (१७) वीरसेन (१८) महाभद्र (१९) देवयश (२०) अजीतवीर्य।

### भूतकाल की चौबीसी

(१) श्री निर्वाण (२) सागर (३) महासिन्धु (४) विमल प्रभ (५) श्रीधर (६) सुदत्त (७) अमल प्रभ (८) उद्धर (९) अगिर (१०) सन्मति (११) मित्रनाथ (१२) कुसुमांजलि (१३) शिवगण (१४) उत्साह (१५) ज्ञानेश्वर (१६) परमेश्वर (१७) विमलेश्वर (१८) यशोधर (१९) कृष्णमति (२०) ज्ञानमति (२१) शुद्धमति (२२) श्रीभद्र (२३) अतिक्रान्त (२४) शान्ति।

### आगामीकाल मे होने चौंवीस तीर्थंकरो के नाम—

(१) श्री महापद्म (२) सुरदेव (३) सुपार्श्व (४) स्वयप्र
(५) सर्वात्मभू (६) श्री देव (७) कुल पुत्र देव (८) उदक देव (
प्रोष्ठिल देव (१०) जयकीर्ति (११) मुनिसुव्रत (१२) अरह (श्रमम
(१३) निष्पाप (१४) निष्कषाय (१५) विपुल (१६) निर्मल (१७
चित्र गुप्त (१८) समाधिगुप्त (१९) स्वयभू (२०) अनिवृत्त (२१
जयनाथ (२) श्री विमल (२३) देवपाल (२४) अनन्तवीर्य।

### श्रावको के उत्तर गुण

(१) लज्जावन्त (२) दयावन्त (३) प्रसन्नता (४) प्रतीतिवन्त (५) परदोषाच्छादन—अर्थात् अन्य मनुष्यो के दोषो का ढाकना (६) परोपकार (७) सौम्यदृष्टि (८) गुणग्राहिता (९) मिष्टभाषी (१०) दीर्घविचारी (११) दान देना (१२) शील पालन (१३) कृतज्ञता (१४) तत्त्वज्ञता (१५) धर्मज्ञता (१६) मिथ्यात्व का त्याग (१७) सन्तोष रखना (१८) स्याद्वाद भाषी (१९) अभक्ष्य त्यागी (२०) षट् कर्म प्रवीण (षट् कर्म इस प्रकार है)—

(१) देवपूजा (२) गुरु सेवा (३) स्वाध्याय (४) सयम (५) तप तथा (६) दान। श्रावक इन षट् कर्मों का रहस्य जानने वाला होना चाहिए।

इच्छा सहित या इच्छा रहित ?

उ० केवली भगवान् को किसी प्रकार की इच्छा नही होती। क्योकि इच्छा तो मोह का अश है। भगवान में मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है, इसलिये वहाँ इच्छा का सद्भाव नही है। भव्य जीवो के पुण्योदय से उनकी दिव्य ध्वनि खिरती है। सूर्य विश्व को प्रकाशित करता है लेकिन उसे किसी प्रकार की इच्छा नही है। उसी प्रकार भगवान् के भी किसी प्रकार की इच्छा नही है।

प्र०—केवली भगवान्, आयु कर्म का अभाव हो जाने पर कहाँ जाते है ?

अनन्त, अक्षय ज्ञान स्वरूप मोक्ष मे जाकर विराजमान होते है।

प्र०—मोक्ष मे कैसा सुख है ?

मोक्ष मे अतीन्द्रिय सुख है।

प्र०—अतीन्द्रिय सुख से हम क्या समझे ?

सुख के दो भेद है—एक इन्द्रिय सुख और दूसरा अतीन्द्रिय सुख। पाच इन्द्रियो के सम्बन्ध से जो सुख होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते है। यह सुख सातावेदनीय कर्म के उदय से ससारी जीवो को हुआ करता है। परन्तु यह सुख क्षणिक और आकुलता उत्पादक होने से उपादेय नही है, हेय है। अनादि से ससार परिभ्रमण मे जीव को अनेक वार यह सुख मिला है। अतीन्द्रिय सुख अर्थात् जहा पाच इन्द्रियो के विषय की कोई आवश्यकता नही रहती, जो सीधा आत्मा से ही होता है, यह केवली तथा सिद्ध परमात्मा के होता है।

प्र०—यह शुद्धात्मा लोक के अन्त मे क्यो रुक जाता है ?

धर्म द्रव्य का अभाव होने से सिद्ध परमात्मा सिद्धालय मे ही स्थित हो जाते है।

द्रव्य छह है और उनका काम भी भिन्न भिन्न है। धर्मास्तिकाय का काम जीव और पुद्गल के गमन मे सहायक होना है। धर्म द्रव्य लोक के अन्त तक है। इसलिये सिद्ध परमात्मा वही तक जाते है, आगे (अलोकाकाश मे) नही।

हो, उसे निगोद कहते है। निगोद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— नि नियता, गा=भूमि क्षेत्र निवास:अनन्तानन्तजीवाना ददाति इति निगोद।

;—गोम्मटसार जीवकाउ टीका

निगोद—जीवो का आहार और श्वासोच्छ्वास एक साथ ही होता है तथा एक निगोद—जीव के मरने पर अनन्त जीवो का मरण और एक निगोद जीव के उत्पन्न होने पर अनन्त निगोद जीवो की उत्पत्ति होती है। निगोद जीव एक श्वास मे अठारह बार जन्म और मरण करते है और अत्यन्त कठोर यातना भोगते हैं। ये निगोद जीव, पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, देव, नारकी, आहारक और केवलियो के शरीर को छोडकर समस्त लोक मे भरे हुए है। निगोद के दो भेद है। एक नित्य निगोद दूसरा चतुर्गति निगोद अर्थात् इतर निगोद।

जिसने कभी त्रस पर्याय प्राप्त कर ली हो उसको चतुर्गति (इतर) निगोद कहते है। और जिसने आजकल कभी भी त्रस पर्याय को न पाया हो तथा जो भविष्य मे भी कभी त्रस पर्याय को नही प्राप्त करेगा उसको नित्य निगोद कहते हे।

नित्य निगोद के लिये गोम्मटसार जीवकाड मे यह गाथा है— "अत्थि अशाता जीवा, जेहिण पत्तो तसाण परिणामो। भाव कलक सुपउरा, णिगोदवास ण मुचति ॥

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव है कि जिन्होने अभी तक कभी भी त्रस पर्याय प्राप्त नही की है, और जो निगोद अवस्था मे होने वाले दुर्लेश्या रूप परिणामो से अत्यन्त घिरे रहने के कारण निगोद स्थान को नही छोडते।

**स्थावर कायिक और त्रस कायिक जीवो का आकार कैसा होता है ?**

जिस प्रकार मसूर आदि (अन्न विशेष) का आकार होता हे। उस प्रकार का पृथिवी कायिकादि जीवो का आकार होता है। जल-काय के जीवो का आकार बूंद जैसा, अग्निकाय के जीवो का आकार

५ व्याख्यान प्रज्ञप्ति मे जीव है या नही ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य ? एक है या अनेक ? नित्य है या अनित्य ? इत्यादि गणदेव के साठ हजार प्रश्नो का व्याख्यान रहता है ।

६ ज्ञातृकथा नाम धर्म कथा मे जोवादि पदार्थों का स्वभाव, तीर्थंकर आदि महापुरुषो का महात्म्य, तीर्थंकरो की दिव्य ध्वनि का समय, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का स्वरूप बताया जाता है । और उसी मे गणधर चक्रवर्ती आदि पुरुषो की कथा उपकथाओ का व्याख्यान रहता है ।

७ उपासकाध्ययन—अग मे उपासको (श्रावको) की सम्यग्दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमा सम्बन्धी व्रत, गुण, शील, आचार तथा दूसरे क्रियाकाड और उनके मत्रादिको का विस्तार पूर्वक व्याख्यान रहता है ।

८, अन्तकृत दशाग—मे प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ मे जो दश-दश मुनि चार प्रकार का उपसर्ग सहन करके ससार के अन्त को प्राप्त हुये अर्थात् मोक्ष गये है, उनका वर्णन है ।

९ अनुत्तरौपपादिक दशांग—मे प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ मे होने वाले उन दश-दश महान् मुनियो का वर्णन है जो घोर उपसग सहन करके अन्त मे आत्म समाधि के द्वारा अपने प्राणो का त्याग करके विजयादि पाच अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न हुये है ।

१० प्रश्न व्याकरण अग—मे दूत वाक्य, नष्ट, मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकार के प्रश्नो के अनुसार तीन काल सम्बन्धी धन-धान्य आदि का लाभालाभ सुख-दुख, जीवन-मरण, जय-पराजय आदि फल का वर्णन रहता है। और प्रश्न के अनुसार आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनी इन चार कथाओ का भी व्याख्यान रहता है ।

११ विपाक सूत्र—मे द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुसार शुभाशुभ कर्मो की तीव्र, मन्द, मध्यम आदि अनेक प्रकार अनुभाग शक्ति के फल का कथन रहता है ।

सख्या, विषय, सख्यादि का वर्णन है।

६ सत्यप्रवाद मे आठ प्रकार के शब्दोच्चार के स्थान पाच प्रयत्न, वाक्य सस्कार के कारण, शिष्ट-दुष्ट पुरुषो के प्रयोग, लक्षण, वचन के भेद, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के असत्य वचन, वचन गुप्ति मौन आदि का वर्णन है।

७ आत्मप्रवाद मे आत्मा के कर्तृत्व भोगतृत्व आदि का कथन रहता है।

८ कर्मप्रवाद पूर्व मे मूल तथा उत्तर प्रकृति तथा बन्ध, उदय, उदीरणा आदि की अनेक अवस्थाओ का वर्णन है।

९ प्रत्याख्यान पूर्व मे नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल भाव पुरुष के सहनन आदि की अपेक्षा से सदोष वस्तु का त्याग, उपवास की विधि, पाच समिति तथा तीन गुप्ति आदि का वर्णन है।

१० विद्यानुवाद पूर्व मे अगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ अल्पविद्या तथा रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओ का स्वरूप सामर्थ्य, मत्र, तंत्र, पूजा-विधान आदि का वर्णन है। तथा सिद्ध विद्याओ का फल और अन्तरीक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन, छिन्न, इन आठ महानिमित्तो का भी कथन रहता है।

११ कल्याणवाद मे तीर्थंकरादि के गर्भावतरणादि कल्याण उनके कारण पुण्यकर्म षोडश भावना आदि का तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रो के चार (गति) का एव ग्रहण, शकुन आदि का वर्णन है।

१२. प्राणवाद मे काय चिकित्सा आदि आठ प्रकार के आयुर्वेद का, इडा, पिगला आदि शरीरस्थ नाडियो का, दश प्राणो के उपकारक, द्रव्यो का गतियो के अनुसार वर्णन किया है।

१३. क्रिया विशाल मे सगीत, छन्द, अलकार, पुरुषो की बहत्तर कला, स्त्री, के चौसठ गुण, शिल्पादि विज्ञान, गर्भाधानादि क्रिया तथा नित्य नैमित्तिक क्रियाओ का सविस्तार वर्णन रहता है।

१४. त्रिलोकबिन्दुसार मे लोक का स्वरूप छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्ष का स्वरूप उसके गमन का कारण, क्रिया मोक्ष सुख के कारण का वर्णन रहता है।

होते है और उन परिणामो से जीव सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। उस साता के उदय से जीव को सासारिक सुख मिलता है।

मनुष्यपर्याय दुर्लभ क्यो है? इस बात को दृष्टान्त सहित समझाइये—

जैसे समुद्र मे गिरे हुए रत्न का हाथ आना दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्य पर्याय पाना अत्यन्त कठिन है। मानव पर्याय से जीव की मुक्ति होती है। साता (इन्द्रिय सुखो) की अपेक्षा देवो को सुखी माना गया है परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये तो मनुष्यभव ही आवश्यक है। मनुष्य पर्याय मिल जाने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और भी कठिन है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये सद्‌बोध और सत्सग की अतिशय आवश्यकता है। सत्सग से जीव को सद्‌विचार आता है, उससे वह सत्यासत्य का निर्णय कर लेता है। सत्य का निर्णय होने पर असत्य अपने आप छूट जाता है। (सम्यग्दर्शन) पूर्वक आत्मज्ञान ही मोक्ष का यथार्थ मार्ग है। इसके आने पर अन्य मोक्ष साधन भी सफल होते है।

## परिग्रह की परिभाषा क्या है?

उत्तर—चेतन अचेतनादि पदार्थो मे ममता का होना परिग्रह है। यह परिग्रह समस्त पापो का मूल है। ससार के समस्त अनिष्ट इसके सम्बन्ध से देखे जाते है।

महर्षियो ने परिग्रह को दो भागो मे बांट दिया है अर्थात् बाह्य और अन्तरग के भेद से उसके दो भेद हो जाते है।

बाह्य परिग्रह—दस प्रकार का है तथा 'अंतरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है। परीग्रह के त्याग से आत्मा सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ हो सकता है।

## बाह्य परिग्रह के नाम

१ वास्तु (घर) २ क्षेत्र (खेत) ३ धन, ४ धान्य, ५ द्विपद (नौकर चाकर मनुष्य आदि) ६ चतुष्पद (पशु,हाथी, घोडे) ७ शयानासन (पलग आदि) ८ यान सवारी ९ कुप्य-वस्त्र और १० भांड वस्त्र आदि।

होते है और उन परिणामो मे जीव सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। उस साता के उदय मे जीव को सासारिक सुख मिलता है।

मनुष्यपर्याय दुर्लभ क्यो है? इस बात को दृष्टान्त सहित समझाइये—

जैसे समुद्र मे गिरे हुए रत्न का हाथ आना दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्य पर्याय पाना अत्यन्त कठिन है। मानव पर्याय से जीव की मुक्ति होती है। साता (इन्द्रिय सुखो) की अपेक्षा देवो को सुखी माना गया है परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये तो मनुष्यभव ही आवश्यक है। मनुष्य पर्याय मिल जाने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और भी कठिन है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये सद्बोध और सत्सग की अतिशय आवश्यकता है। सत्सग से जीव को सद्विचार आता है, उससे वह सत्यासत्य का निर्णय कर लेता है। सत्य का निर्णय होने पर असत्य अपने आप छूट जाता है। (सम्यग्दर्शन) पूर्वक आत्मज्ञान ही मोक्ष का यथार्थ मार्ग है। इसके आने पर अन्य मोक्ष साधन भी सफल होते है।

## परिग्रह की परिभाषा क्या है?

उत्तर—चेतन अचेतनादि पदार्थों मे ममता का होना परिग्रह है। यह परिग्रह समस्त पापो का मूल है। ससार के समस्त अनिष्ट इसके सम्बन्ध से देखे जाते है।

महर्षियो ने परिग्रह को दो भागो मे बाट दिया है अर्थात् बाह्य और अन्तरग के भेद से उसके दो भेद हो जाते है।

बाह्य परिग्रह—दस प्रकार का है तथा 'अतरग परिग्रह चौदह प्रकार का है। परीग्रह के त्याग से आत्मा सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ हो सकता है।

## बाह्य परिग्रह के नाम

१ वास्तु (घर) २ क्षेत्र (खेत) ३ धन, ४ धान्य, ५ द्विपद (नौकर चाकर मनुष्य आदि) ६ चतुष्पद (पशु,हाथी, घोडे) ७ शयानासन (पलग आदि) ८ यान सवारी ९ कुप्य–वस्त्र और १० भांड वस्त्र आदि।

छहसौ, श्रेयांसनाथ के पैसठ हजार छहसौ, वासुपूज्य के चौवन हजार छह सौ, विमलनाथ के इक्यावन हजार तीनसौ, अनन्तनाथ के इक्यावन हजार, धर्मनाथ के उनचास हजार सातसौ, शान्तिनाथ के अडतालीस हजार चारसौ, कुन्थुनाथ के छयालीस हजार आठसौ, अरनाथ के सैंतीस हजार दोसौ, मल्लीनाथ के अट्ठाईस हजार आठसौ मुनिसुव्रतनाथ के उन्नीस हजार दोसौ, नमिनाथ के नौ हजार छहसौ, नेमिनाथ के आठ हजार, पार्श्व नाथ के छह हजार दा सौ, और भगवान् महावीर के सात हजार दोसौ, थी ।

कितने ही आचार्यों का मत है कि प्रारम्भ से लेकर सोलह तीर्थंकरो के शिष्य, जिस समय उन को केवल ज्ञान हुआ था उसी समय सिद्धि को प्राप्त हो गये थे । इसके वाद चार तीर्थंकरो के शिष्य क्रम से एक, दो, तीन और छह मास मे सिद्धि को प्राप्त हुए और उसके वाद चार तीर्थंकरो के शिष्य एक, दो, तीन और चार वर्ष में सिद्धि को प्राप्त हुए ।

**चौवीस तीर्थंकरो के साथ कितने कितने राजाओ ने दीक्षा धारण की थी ?**

भगवान् महावीर ने अकेले ही दीक्षा ली थी अर्थात् उनके साथ कई राजा आदि दीक्षित नही हुआ । भगवान् मल्लिनाथ और पार्श्व नाथ ने तीन–तीनसौ राजाओ के साथ दीक्षा धारण की थी । वासुपूज्य प्रभु ने छह सौ, राजाओ सहित दीक्षा ग्रहण की थी । वृषभनाथ भगवान् के साथ चार हजार अपना राज-पाट त्याग साधु बने थे । बाकी के तीर्थंकरो के साथ एक-एक हजार राजाओ ने दीक्षा ली थी ।

**तीर्थंकरो की पारणाओ मे (आहार) मे रत्न वृष्टि कैसे होती है तथा उस मे रत्नो का कितना प्रमाण है ?**

समस्त तीर्थंकरो की आदि पारणाओ और वर्द्धमान भगवान् की सभी पारणाओ मे नियम से रत्नवृष्टि हुई थी । उस रत्नवृष्टि का उत्कृष्ट प्रमाण साढे वारह करोड और जघन्य साढे वारह लाख होता है ।

**मनुष्यों का गमन कहां तक हो सकता है ?**

मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्यो का गमन हो सकता है। आगे कोई भी मनुष्य नही जा सकता। आगे तिर्यंचो का सद्भाव है।

**तीर्थंकरो ने कहाँ—अर्थात् कौन कौन से स्थानो पर दीक्षा धारण की थी ?**

भगवान् वृषभनाथ का दीक्षा कल्याणक विनीता अयोध्या मे नेमिनाथ का द्वारावती मे और शेष तीर्थंकरो का अपना-अपनी जन्म भूमि मे दीक्षा कल्याणक हुआ।

**पांच पांडवो मे से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये हैं तथा नकुल सहदेव सर्वार्थसिद्धि में गये है। जबसे वे सभी ही उपसर्ग के समय मे आत्मस्थ थे तो फिर फल भेद क्यो ? अर्थात इसका क्या कारण है ?**

धीर वीर पाचो पाण्डव मुनि जब प्रतिमा योग से शत्रुजय पर्वत पर विराज मान थे उस समय वही दुर्योधन के वंश का कोई पुरुष रहता था। ज्यो ही उसने पाण्डवो का आना सुना त्यो ही आकर उसने वैर वश उन पर घोर उपसर्ग करना प्रारभ कर दिया। उसने तपाये हुए लोहे के मुकुट कड़े, कटि सूत्र आदि बनवाये और उन्हे अग्नि मे अत्यन्त प्रज्वलित कर उनके मस्तक आदि स्थानो मे पहनाये। वे मुनिराज अतिशय धीर-वीर थे, कर्मोदय समता रखने वाले थे इस लिए उन्होने ज्वलन (दाह) के उस भयकर उपसर्ग को समतापूर्वक सहन। किया भीम अर्जुन और युधिष्ठिर ये तीन मुनिराज तो शुक्ल ध्यान मे युक्त हो आठो कर्मो का क्षय कर मोक्ष पधारे परन्तु नकुल और सहदेव के बड़ेभाई की राह देख कर कुछ-कुछ आकुलित चित्त हो गये अर्थात् उनके मन मे कुछ आकुलता आगई। इस लिए सर्वार्थ सिद्धि मे उत्पन्न हुए।

**क्या तीर्थंकरो के सभी गणधर मोक्ष जाते हैं ?**

हा, तीर्थंकरो के सभी गणधर मोक्ष जाते है। शास्त्रो मे मनः पर्यय ज्ञान के दो भेद बताये हैं। उसमें गणधर विपुलमति मन पर्यय

परिवार के मनुष्य उसके सामने अनेक प्रकार के जगली पदार्थ रख कर कहने लगे कि—ऐसा सुख था अर्थात् इन पदार्थों के सेवन से जो सुख होता है, वैसा था। वह नही, नही ही कहता है। तव कुटुम्बियो ने कहा—'तू असत्य वोलता है। जैसे भील के पास राज्य सुख व्यक्त करने के लिये कोई शब्द या वस्तु नही है वैसे ही मुक्ति को प्रगट करने वाले शब्द या पदार्थ इस ससार मे नही है।

भगवान् आत्म सुख को जानते है परन्तु सम्पूर्ण रीति शब्दो द्वारा उस सुख का कथन करना असभव है।

## क्या सम्यग्दर्शन देवायु के वन्ध का कारण है ?

अपनी आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा का विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मा मे स्थिरता चारित्र है। ये तीनो ही गुण आत्मा को छोडकर किसी अन्य पदार्थ मे नही पाये जाते अर्थात् ये आत्म-स्वरूप ही है। स्वभाव अथवा गुण कभी वन्ध का कारण नही हो सकता। रत्नत्रय रूप धर्म तो निर्वाण का ही कारण है, अन्य गति का नही। रत्नत्रय की विद्यमानता मे जो पुण्यास्रव होता है उसका कारण शुभराग—शुभोपयोग है।

तत्वार्थ सूत्र मे वन्ध के कारणो का वर्णन करते समय 'सम्यक्त्व च।" के सूत्र से सम्यग्दर्शन को भी देवायु के वन्धकारण बताया गया है। उसका समाधान यही है कि सम्यग्दर्शन की अवस्था मे जो रागाश है उसी से वन्ध होता है।

तीर्थकर प्रकृति वन्ध चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आठवे गुणस्थान से लेकर आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक तीनो सम्यक्त्वो मे हो सकता है और आहारक प्रकृति का वन्ध चारित्र से होता है। ऐसा शास्त्रो मे कथन है। फिर शास्त्रज्ञ इस कथन को नयापेक्षा से अविरुद्ध समझते है अर्थात् दोनो कथनो मे कोई विरोध नही है। क्योकि अभूतार्थ नय से सम्यक्त्वादि या चारित्र को वन्ध का कारण कह दिया जाता है, परन्तु वास्तव मे वे वन्ध के कारण नही है।

[illegible] प्रति सेवना कुशील मुनि कहलाते है।

जो ग्रीष्मकाल मे जंघाप्रक्षालन आदि के कारण अन्य कषाय के उदय से [illegible] संज्वलन कषाय युक्त है, वे कषाय कुशील मुनि कहलाते है।

४ निर्ग्रन्थ —जिनके अन्तर्मुहूर्त मे केवल ज्ञान प्राप्त होने वाला है वे निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते है।

५ स्नातक —जिन्होने घातिया कर्मो का नाश कर दिया है वे स्नातक कहलाते है।

**भोगभूमि के कितने भेद है ?**

भोगभूमि तीन प्रकार की है। १ उत्तम, २ मध्यम और ३ जघन्य।

हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रो मे **जघन्य भोगभूमि** है।

हरि और रम्यक क्षेत्रो मे मध्यम **भोगभूमि** है तथा देवकुरु और उत्तर कुरु मे **उत्तम भोगभूमि** है।

मनुष्य लोक (अढाई द्वीप) मे बाहर जघन्य भोगभूमि की सी रचना है, किन्तु अन्तिम स्वयभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध मे तथा समस्त स्वयभूरमण समुद्र मे तथा चारो कोनो की पृथ्वियो मे कर्मभूमि जैसी रचना है।

देवकुरु और उत्तर कुरु क्षेत्र मे सदा काल पहले काल उत्कृष्ट भोगभूमि के आदि की रचना है। अर्थात् भरतक्षेत्र के प्रथम काल मे जैसी रचना होती है वैसी है।

दूसरे काल की आदि की रचना हरि और हरि रम्यकक्षेत्र मे रहती है।

तीसरे काल की आदि की रचना हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र मे अवस्थित है।

भरतक्षेत्र ऐरावत क्षेत्रो के पाच-पाच म्लेच्छ खण्ड तथा विद्याधरो के निवासक्षेत्र विजयार्द्ध पर्वत की श्रेणियो मे सदा चौथा काल रहता है।

रहते है। अर्थात उनका जीवन सदाचारी और न्यायोचित होता है। चक्रवर्ती राजा म्लेच्छ कन्याओ से विवाह करते है और कन्याओ की सन्तानें मुनिपद भी धारण कर सकती है।

सोलह कारण भावनायें कौन-सी है ? जिनकी भावना से पुण्यात्मा तीर्थंकर प्राकृति का बन्ध करते है ?

१ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का नाम दर्शनविशुद्धिभावना है।

२ विनय गुण की पूर्णता को विनय सपन्नता कहते है।

३ अहिंसादिव्रत और उनके रक्षक क्रोध त्याग आदि शीलो मे विशेष प्रवृत्ति करना शीलव्रते स्वनतिचार है।

४, ५ निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना और ससार से भयभीत रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग और सवेग भावना है।

६, ७ अपनी शक्ति अनुसार दान देना और उपवास आदि तप करना।

८ साधुओ के विघ्न तथा उपसर्गो का दूर करना साधुसामाधि है।

९ रोगी तथा बाल वृद्ध मुनियो की सेवा करना वैयावृत्य करण है।

१०, ११, १२, १३, अरहन्त भगवान की भक्ति करना, दीक्षाचार्य की भक्ति करना, बहुश्रुत (उपाध्याय) की भक्ति करना तथा शास्त्र की भक्ति करना' अर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचन भक्ति भावनायें है।

(४) प्रसूति स्थान को १ मास की अशुद्धि लगती है।

(५) रजस्वला स्त्री (ऋतुवती) पाचवे दिन शुद्ध होती है

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभी शुद्ध नही होती, सदा अशुद्ध रहा करती है।

(७) मरण का सूतक १२ दिन का माना गया है।

(८) तीन पीढी तक १२ दिन, चौथी पीढी मे १० दिन, पाँचवी पीढी मे ६ दिन, छठी पीढी मे ४ दिन, सातवी मे ३ दिन और आठवी पीढी मे एक दिन-रात तथा ९वी मे दो पहर और १०वी पीढी मे स्नान मात्र से शुद्धता मानी गई है।

(९) आठ वर्ष तक के बालक की मृत्यू का तीन दिन तक और तीन दिन के बालक का १ दिन का सूतक माना गया है।

(१०) निजकुल का कोई दीक्षित हुआ हो, उसका सन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बी का सग्राम मे मरण हो जाय तो एक दिन का सूतक होता है। यदि अपने कुल का देशान्तर मे मरण करे और १२ दिन पूरे होने से पहले मालूम हो तो शेष दिनो का सूतक मानना योग्य है। यदि दिन पूरे होगये हो तो स्नान मात्र से शुद्ध होजाता है

(११) घोडी, भैंस, गाय आदि पशु तथा दासी अपने घर के आगन मे जने तो एक दिन का सूतक होता है। यदि घर से बाहर जनें तो सूतक नही होता।

(१२) दासी, दास तथा पुत्री के प्रसूति हो या मरे तो तीन दिन का सूतक होता है। घर से बाहर हो तो सूतक नही होता। यहा पर मृत्यु की मुख्यता से तीन दिन कहा है। प्रसूति का एक ही दिन माना गया है।

(१३) जने पीछे भैंस का दूध १५ दिन तक गाय का दूध १० दिन तक और बकरी का दूध ८ दिन तक अशुद्ध रहता है अर्थात् कुलवानो के लिए अपेय रहता। बाद मे शुद्ध होता है—पेय होता है।

## खाद्य पदार्थो को क्या मर्यादा है ?

भोज्य पदार्थों की भी मर्यादा हुआ करती है। मर्यादा काल बीत

इसके सिवाय जिन खाद्य पदार्थों का स्वाद या रंग बिगड़ गया हो वह भी खाने योग्य नहीं रहते।

## भोजन स्थान कैसा होना चाहिए ?

आहर को स्थान स्वच्छ साफ शान्त तथा प्रकाश वाला चाहिए। साफ होने से छोटे-छोटे जीव जन्तुओं के गिरने का डर नहीं रहता।

मनुष्य जैसा भोजन करता है, उसका वैसा ही प्रभाव शरीर तथा मन पर पडता है। सात्विक भोजन करने वाले स्त्री पुरुषो के मन सदैव प्रसन्न रहा करते है। उनमे बुरी वासनाये बहुत ही कम होती है। लोकोक्ति है कि—

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन,
जैसा पीओ पानी, वैसी बोले वाणी।

मानसिक विचारो को शुद्ध रखने के लिए शुद्ध आहार जल भी एक निमित्त है।

अभक्ष पदार्थो के भक्षण करने से अन्तरात्मा मे एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न होता है। इसलिये अन्य ग्रन्थो मे भी सात्विक और शुद्ध आहार को ग्राह्य बताया है। राजस तथा तामस आहार त्याज्य है।

## चौदह कुलकर और श्री वृषभ देव भगवान् का जन्म कौन से काल में हुआ ?

छह् कालो मे से जब तीसरे काल मे पल्य का आठवा भाग बाकी रहा था तब अनुक्रम मे चौदह कुलकर और उनके बाद वृषभदेव भगवान् का जन्म हुआ था। शेष तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो, बलभद्र, नारायणो प्रतिनारायणो का जन्म चौथे काल मे हुआ है ?

**भगवान वृषभ देव कब और कहां से मोक्ष पधारे है।**

जब तीसरे काल मे तीन वर्ष साढे पांच मास बाकी रहे थे तब भगवान् कैलाश पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

**पू० आर्यिका श्री ज्ञानमति जी के शिक्षण शिवर चतुर्मास पहाडो धीरज से २५.६.७२ को सुनी चर्चाः—**

प्रश्न -अप्रत्याखान-कषाय का वासना काल ?

**उत्तरः**-अधिक से अधिक छे मास तक सम्यक द्रष्टि के चल सकता है अगर इस समय से भी अधिक चले, तो उसे अनन्तानुवधी का ही उदय समझना चाहिये-इसके सस्कार छे महीने से भी अधिक इस प्रकार चलते देखे जाते हे-जैसे एक वार किसी से क्रोधित होने पर वोल चाल वन्द हो जाय, और ६ महीने वीत जाने पर भी वोलने के भाव न हो तो इस का कारण अनन्तानुवधी कषाय का प्रतीक समझना चाहिये ऐसी चर्चा से आपको भी कषाय घटानी चाहिये ।

**देव की गतिः**—एक सेकिन्ड मे असख्यात मील होती है, एक राजू असख्यात योजन का होता है-ऐसे असख्यात द्वीपसमुद्र मध्यलोक के मात्र एक राजू मे समाये है, पर इस मध्य लोक की ऊँचाई मात्र एक लाख योजन ही है, अर्थात् जम्वू द्विप के मध्य मे मेरू पर्वत जितना ऊचा है उतनी ही मध्यलोक की ऊचाई है-इस मेरू की चोटी और प्रथम स्वर्ग मे एक वालका ही अन्तर है ।

**तीनलोक के तीन भाग**—उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक, उर्ध्व लोक के सर्वोच्च मस्तक पर सिद्धलोक हे । जो एक राजू विस्तार मे है, जिस मे सिद्धशिला मात्र ४५ लाख योजन है ढाई द्वाप भी ४५ लाख योजन का है इसी ४५ लाख योजन के क्षेत्र से ही मनुष्य सीधा उर्ध्व गमन कर सिद्धगति (पचमगति) को प्राप्त करता है ।

मध्यलोक मे नीचे ७ राजू का अधोलोक है, जिस के सव से नीचे एक राजू मे नित्य निगोद, के ऊपर ६ राजू मे सातो नरक त्रसनाडी के अन्दर है । अर्थात् प्रत्येक नरक का क्षेत्र पूर्व पश्चिम एक राजू उत्तर दक्षिण सात राजू मे है । पर नित्य निगोद सात राजू पूर्व पश्चिम सात ही राज उत्तर दक्षिण क्षेत्र मे है । इस मे नित्य निगोदिया जीव अनादि काल से है । जो अनन्त काल तक अनन्त सख्या मे रहेगे

छोटे से छोट अकृत्रिम चैत्यालय एक कोस लम्बा-पोण कोश चौडा और आध कोस ऊचा होता हे, तेरह दीप तक के सभी अकृत्रिय चैत्यालो मे एक सौ आठ आठ सिद्ध भगवान की प्रतिमाये हे।

सिद भगवान् के साथ अष्ट मगल द्रव्य तथा आठ प्रातिहार्य नही होते-जब कि अर्हत प्रतिमा के साथ नियम मे होते हे यही दोनो प्रतिमाओ की पहिचान हे।

कुलाचलो (पवर्तो) पर पद्म-महापद्म आदि नाम के हृद (कुण्ड) अनादि हे उन उन मे पृथ्वी काय का कमलाकार "श्री' नाम की देवी का भवन है, जिस क पत्ते पखडी सभी रत्नमई है। इसी भवन मे व्यन्तर जाति की श्री देवी का आवास है।

मन को एक प्रकार से नपुसक नाम की सज्ञा दी गई हे-कारण इस का स्वभाव नीचे की ओर जाने का हे। जैसे जल की गति नीचे की ओर वहने को है, इसी प्रकार मनभी ऊचे भाव की ओर न जाकर नीच भाव की ओर अधिक भागता है। अर्थात् सभी प्रकार के वर्जित कार्य विना किसी सस्कारो के मिले भी स्वत स्वभाव सीख गहण कर लेता है, चोरी हिसा व्यभचार आदि विना पाठ पढाये ग्रहण कर लेता है। और इन्द्रियो मे रमण कर सुख दुख का अनुभव करता रहता है। इस कारण इस मन को नपुसक की सज्ञा दी गई है।

**पूर्व उत्तर दिशा का महत्व**—अनादि काल से आज तक और भविष्य काल मे जितने भी केवली होगे, और हो चुके है सभी अपने मुख को पूर्व-उत्तर दिशा मे कर अतरीक्ष मे ५०० धनुष ऊपर विराजते है, चाहे उन का अतिशय चारो दिशा से समान दर्शन कराता है पर उनका स्वय का मुख पूर्व तथा उत्तर दिशा मे ही होता है, और अनन्ते सिद्ध भी इन्हीं दो दिशा मे मुख को रखते हुये मोक्ष गये और जाते रहेगे।

साधारण केवली की गध कुटी मे भी वाणी खिरती है, पर उसका समय निश्चित नही होता, यदा कदा जब भी विशेष पुण्य का जीव गध कुटी मे आजाय-तोही वाणी स्वभाविक खिरने लगती है।

## पू० आर्यिका श्री ज्ञानमति जी के शिक्षण शिवर चतु-र्मास पहाडो धीरज से २५.६.७२ को सुनी चर्चा:—

प्रश्न -अप्रत्याखान-कषाय का वासना काल ?

उत्तर·-अधिक से अधिक छे मास तक सम्यक द्रष्टि के चल सकता है अगर इस समय से भी अधिक चले, तो उसे अनन्तानुवधी का ही उदय समझना चाहिये-इसके सस्कार छे महीने से भी अधिक इस प्रकार चलते देखे जाते है-जैसे एक वार किसी मे क्रोधित होने पर वोल चाल वन्द हो जाय, और ६ महीने वीत जाने पर भी वोलने के भाव न हो तो इस का कारण अनन्तानुवधी कषाय का प्रतीक समझना चाहिये ऐसी चर्चा से आपको भी कषाय घटानी चाहिये।

**देव की गतिः**—एक सेकिन्ड मे असख्यात मील होती है, एक राजू असख्यात योजन का होता है-ऐसे असख्यात द्वीपसमुद्र मध्यलोक के मात्र एक राजू मे समाये है, पर इस मध्य लोक की ऊंचाई मात्र एक लाख योजन ही है, अर्थात् जम्बू द्विप के मध्य मे मेरू पर्वत जितना ऊचा है उतनी ही मध्यलोक की ऊचाई है-इस मेरु की चोटी और प्रथम स्वर्ग मे एक वालका ही अन्तर है।

**तीनलोक के तीन भाग**—उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक, उर्ध्व लोक के सर्वोच्च मस्तक पर सिद्धलोक है। जो एक राजू विस्तार मे है, जिस मे सिद्धशिला मात्र ४५ लाख योजन है ढाई द्वीप भी ४५ लाख योजन का है इसी ४५ लाख योजन के क्षेत्र से ही मनुष्य सीधा उर्ध्व गमन कर सिद्धगति (पचमगति) को प्राप्त करता है।

मध्यलोक से नीचे ७ राजू का अधोलोक है, जिस के सब से नीचे एक राजू मे नित्य निगोद, के ऊपर ६ राजू मे सातो नरक त्रसनाडी के अन्दर है। अर्थात् प्रत्येक नरक का क्षेत्र पूर्व पश्चिम एक राजू उत्तर दक्षिण सात राजू मे है। पर नित्य निगोद सात राजू पूर्व पश्चिम सात ही राज उत्तर दक्षिण क्षेत्र मे है। इस मे नित्य निगोदिया जीव अनादि काल से है। जो अनन्त काल तक अनन्त सख्या मे रहेगे

छोटे से छोटे अकृत्रिम जिनालय एक कोस लम्बा-आधा कोस चौड़ा और पौन कोस ऊंचा होता है, तेरह द्वीप तक के सभी अकृत्रिम चैत्यालयो मे एक सौ आठ आठ जिन भगवान की प्रतिमाये है।

सिद्ध भगवान् के साथ अष्ट मंगल द्रव्य तथा आठ प्रातिहार्य नहीं होते-जब कि अर्हन्त प्रतिमा के साथ नियम से होते है यही दोनो प्रतिमाओ की पहिचान है।

कुलाचलो (पर्वतों) पर पद्म-महापद्म आदि नाम के ह्रद (कुण्ड) अनादि है उन उन मे पृथ्वी काय का कमलाकार "श्री" नाम के देवी का भवन है, जिस के पत्ते पखुड़ी सभी रत्नमई है। इसी भवन मे व्यन्तर जाति की श्री देवी का आवास है।

मन को एक प्रकार से नपुसक नाम की सज्ञा दी गई है-कारण इस का स्वभाव नीचे की ओर जाने का है। जैसे जल की गति नीचे की ओर बहने की है, इसी प्रकार मनभी ऊचे भाव की ओर न जाकर नीच भाव की ओर अधिक भागता है। अर्थात् सभी प्रकार के वर्जित कार्य बिना किसी सस्कारो के मिले भी स्वत स्वभाव सीख ग्रहण कर लेता है, चोरी हिसा व्यभचार आदि बिना पाठ पढाये ग्रहण कर लेता है। और इन्द्रियो मे रमण कर सुख दुख का अनुभव करता रहता है। इस कारण इस मन को नपुसक की सज्ञा दी गई है।

**पूर्व उत्तर दिशा का महत्व**—अनादि काल से आज तक और भविष्य काल मे जितने भी केवली होगे, और हो चुके है सभी अपने मुख को पूर्व-उत्तर दिशा मै कर अतरीक्ष मे ५०० धनुप ऊपर ब्राजते है, चाहे उन का अतिशय चारो दिशा से समान दर्शन कराता है पर उनका स्वय का मुख पूर्व तथा उत्तर दिशा मे ही होता है, और अन ते सिद्ध भी इन्ही दो दिशा मे मुख को रखते हुये मोक्ष गये और जाते रहेगे।

साधारण केवली की गध कुटी मे भी वाणी खिरती है, पर उसका समय निश्चित नही होता, यदा कदा जब भी विशेष पुण्य का जीव गध कुटी मे आजाय-तोही वाणी स्वभाविक खिरने लगती है।

छोटे से छोटे अकृत्रिम चैत्यालय एक कोस लम्बा-पोण कोस चौड़ा और आध कोस ऊंचा होता है, तेरह द्वीप तक के सभी अकृत्रिम चैत्यालो मे एक सौ साठ आठ जिन भगवान की प्रतिमाए हैं।

सिद्ध भगवान् के साथ अष्ट मंगल द्रव्य तथा आठ प्रातिहार्य नही होते-जब कि अर्हन्त प्रतिमा के साथ नियम से होते है यही दोनो प्रतिमाओ की पहिचान है।

कुलाचलो (पर्वतो) पर पद्म-महापद्म आदि नाम के ह्रद (कुण्ड) अनादि है उन उन मे पृथ्वी काय का कमलाकार "श्री" नाम की देवी का भवन है, जिस के पत्ते पखडी सभी रत्नमई है। इसी भवन मे व्यन्तर जाति की श्री देवी का आवास है।

मन को एक प्रकार से नपुंसक नाम की सज्ञा दी गई है-कारण इस का स्वभाव नीचे की ओर जाने का है। जैसे जल की गति नीचे की ओर बहने की है, इसी प्रकार मनभी ऊंचे भाव की ओर न जाकर नीच भाव की ओर अधिक भागता है। अर्थात् सभी प्रकार के वर्जित कार्य निना किसी सम्कारो के मिले भी स्वत स्वभाव सीख ग्रहण कर लेता है, चोरी हिसा व्यभचार आदि विना पाठ पढाये ग्रहण कर लेता है। और इन्द्रियो मे रमण कर सुख दुख का अनुभव करता रहता है। इस कारण इस मन को नपुसक की सज्ञा दी गई है।

**पूर्व उत्तर दिशा का महत्व.**—अनादि काल से आज तक और भविष्य काल मे जितने भी केवली होगे, और हो चुके है सभी अपने मुख को पूर्व–उत्तर दिशा मै कर अतरीक्ष मे ५०० धनुप ऊपर विराजते है, चाहे उन का अतिशय चारो दिशा से समान दर्शन कराता है पर उनका स्वय का मुख पूर्व तथा उत्तर दिशा मे ही होता है, और अनते सिद्ध भी इन्हीं दो दिशा मे मुख को रखते हुये मोक्ष गये और जाते रहेगे।

साधारण केवली की गध कुटी मे भी वाणी खिरती है, पर उसका समय निश्चित नही होता, यदा कदा जब भी विशेष पुण्य का जीव गध कुटी मे आजाय-तोही वाणी स्वभाविक खिरने लगती है।